

# कहान क्रमबद्ध कथा

[ अध्यात्म युगप्रवर्तक एक वीर महापुरुष की यशोगाथा ]

भाग-1

[ सत्य की प्यास, खोज और प्राप्ति ]

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं ।  
 णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं ॥  
 जिनवर-ध्वनि-मुनिकुन्द का, है उपकार महान ।  
 जिनकुन्दध्वनि दातार, अहो! उपकारी गुरु कहान ॥

भारतीय धर्मविचार की चिन्तनधारा में जैन तत्त्वज्ञान का प्रदेय अनन्य है। अनेक तीर्थकरों, शास्त्रों और आचार्यों ने ज्ञान के विकास की पगडंडी बताई है। अति प्राचीन तीर्थस्थान, गहन-गम्भीर और सूक्ष्म सत्य सिद्धान्त तथा महापुरुषों की जीवन-साधना आदि से समृद्ध जैनधर्म ने मानवमात्र के शाश्वत कल्याण का मार्ग बताया है।

अपनी यथार्थ अस्ति के स्वानुभवपूर्वक सम्यक् श्रद्धा और ज्ञानसहित, मोह-राग-द्वेष-ममतारूपी गाँठरहित निर्ग्रन्थों ने अर्थात् आचार्य, उपाध्याय और साधु ने आत्मस्थिरता द्वारा मन-वचन-काय के योगों को मर्यादा में लाकर तथा समस्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके सर्व दोषों से मुक्त होने के लिये मोक्षमार्ग में अग्रसर हुए। इस मोक्षमार्ग की साधना करके ही उन्होंने पूर्ण वीतराग और सर्वज्ञ दशामय अरिहन्तपद प्राप्त किया और आयु पूर्ण होने पर अशरीरी सिद्धपद प्राप्त किया।

अरिहन्त अर्थात् राग-द्वेष को पूर्णरूप से नष्ट करनेवाले, पूर्ण वीतरागी और त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों के ज्ञाता-दृष्टा सर्वज्ञ अर्थात् तीनकाल तीनलोक को जानने वाले देवाधिदेव परमात्मा। जिसके द्वारा संसार-सागर तिरा जाये-ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीर्थ के कर्ता-रचयिता होने से और तीर्थकर प्रकृति का उदय होने से वे तीर्थकर भी कहे जाते हैं। वे संसार समुद्र को स्वयं तिरते हैं और अनन्त जीवों को भी तारते हैं। इसलिये जहाज के समान तरणतारण हैं। वे धर्म का सत्यस्वरूप समझाकर सनातन मोक्षमार्ग प्रकट करके जगत का कल्याण करते हैं। जैनधर्म संसाररूपी गडढे में गिरते हुए जीवों को आधार-आलम्बनभूत है और उसके प्रकाशक तीर्थकर हैं।

मोह-ममतारूप अन्तरंग शत्रुओं को जीतने के लिए पवित्र आत्मसाधना ही समर्थ है और यह साधना ही वास्तव में जैनधर्म है। इस भरतक्षेत्र में इस हुण्डावसर्पिणी काल में आत्मसाधना का पावनतीर्थ उद्घाटित करनेवाले देवाधिदेव श्री ऋषभदेव जो कि आदिनाथ के रूप में भी प्रसिद्ध हैं, उन से लेकर श्री महावीर स्वामी तक चौबीस तीर्थकर हुए।

मोह-राग-द्वेष को जीतने वाले जिनेन्द्र भगवान की वाणी को सत्यार्थरूप से जानकर और मानकर मोह-ममता-तृष्णा-कषायरूपी हिंसा का अभाव करनेवाले मार्ग पर चलता है अर्थात् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा को स्वीकार करता है, वही सच्चा जैन कहलाता है।

जैनधर्म के तीर्थकरों का साधनामय पवित्र जीवन मुमुक्षु के सर्व आत्मप्रदेशों में आत्मसाधना की गूँजन करता है, आत्मा को जागृत करता है और सची श्रद्धा, समझ, और चारित्र को प्राप्त करने की प्रेरणा देकर आत्मार्थी जीवों को स्वानुभूति का मार्ग दिखाता है, परन्तु अभी तीर्थकर के विरह में अँगुली पकड़कर इस मार्ग पर हमें किसने चढ़ाया? भव-भ्रमण के आताप से दग्ध जिज्ञासु जीवों को आत्मिक शीतलता किसने प्रदान की? परम महिमावन्त तीर्थकर भगवन्तों की पहचान कराके उनके द्वारा प्रतिपादित मोक्षमार्ग की आराधना करने की विधि किसने बतायी? इन सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर है-श्री सीमन्धर भगवान का दिव्य-सन्देश भरतक्षेत्र में लाने वाले सीमन्धरदूत, सीमन्धर लघुनन्दन, वीरमार्गप्रकाशक, समयसारादि सत्श्रुत का रहस्य सुलझाने वाले, श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों का हृदय खोलनेवाले, सिद्धपद साधक मुनिवरों के परमभक्त, अध्यात्मयोगी, अचिन्त्य ज्ञानवैभवधारी, भव्य भक्तों के तारणहार, दिव्य द्रव्यदृष्टिधारक, सम्यक् रत्न सुशोभित, आत्मानुभवी सन्त पूज्यश्री कानजीस्वामी...कानजीस्वामी.....कानजीस्वामी।

कौन हैं ये कानजीस्वामी? पूज्य भगवती माता बहिन श्री चम्पाबेन के शब्दों में कहें तो गुरुदेव तो गुरुदेव ही थे। उन्हें अन्तर में चैतन्य चमत्कार प्रकट हुआ था। उनकी दिव्य मुखमुद्रा पर ज्ञान-वैराग्य की निस्पृहता भरी खुमारी दिखती थी। उनकी आँखों में चैतन्य का तेज और चमत्कार था। उनको निहारते ही ऐसा लगता था कि ये महापुरुष हैं।

गुरुदेव में शास्त्रों में भरे हुए गहनभावों को खोलने की अजब शक्ति थी। उन्हें श्रुत की लब्धि थी। प्रवचन में व्यक्त होनेवाले गम्भीर भावों को सुनते हुए बहुत बार ऐसा लगता था कि यह क्या श्रुतसागर उछल रहा है। ऐसे गम्भीर भाव कहाँ से निकलते हैं। गुरुदेव जैसी वाणी और कहीं नहीं सुनी। उनकी अमृत-वाणी के रणकार कितने मीठे थे। मानों सुनते ही

रहे। उनके जैसा आत्मस्पर्शी एक वाक्य भी कोई बोल नहीं सकता। अनुभवरस से भरपूर उनकी दृढ़ वाणी का पड़कार कोई निराला ही था। पात्र जीवों का पुरुषार्थ जागृत कर दे और मिथ्यात्व को चकचूर कर दे-ऐसी दिव्यवाणी थी। हम सबका भाग्य है कि गुरुदेव की वह मङ्गलमय कल्याणकारी वाणी टेपरिकॉर्ड में उतरकर जीवन्त रह गयी।

कल्याणमूर्ति कृपालु गुरुदेव का हम सब पर अनन्त अनन्त उपकार है, गुरुदेव का जितना बहुमान करें, जितना गुणगान करें, उतना कम है।

हे गुरुदेव! आपके अध्यात्म घोलन को प्रतिचिंतित करती अति गम्भीर मुखमुद्रा निज शुद्धात्मतत्व के प्रत्यक्ष अनुभवज्ञान का चित्रण करता हुआ स्पष्ट संदेहरहित मुखकमल, अलौकिक आदर्शरूप पवित्र जीवन और मानो अन्तरे अतीतिन्द्रय आनन्द को झेल रहा हो ऐसा प्रसन्न निर्दोष हास्य तथा स्वरूप सन्मुखता के प्रखर पुरुषार्थ को दिखानेवाली दृढ़ मुखाकृति हजारों मुमुक्षुओं के हृदय मन को डोला देती थी।

भगवान आत्मा....भगवान आत्मा.....भगवान आत्मा.....इस प्रकार जीवन की अन्तिम श्वास तक ज्ञान के घनपिण्ड, आनन्दकन्द ऐसे पवित्र भगवान आत्मा के गीत गाने वाले और उसके ही श्रद्धा-ज्ञान-आचरण की प्रेरणा देनेवाले युगान्तकारी सत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी को हजारों श्रोताओं की सभा में प्रवचन देते देते भी क्षणभर को ही सही, अपने आत्मा में स्थिर होते- जम जाते हुए हजारों आँखों ने देखा है। वे क्या कहते हैं? उनके कहने का भाव क्या है? यह समझने वाले लोग भले ही कम हों, परन्तु ऐसा अनुभव तो सभी को अवश्य हुआ है कि गुरुदेव जो कुछ भी कह रहे हैं वह जानकर देखकर और अनुभव करके कह रहे हैं। उनकी बात अन्तर की गहराई से आ रही है, मात्र कहने के लिये नहीं।

चाहे सभा छोटी हो या बड़ी, श्रोता परिचित हों या अपरिचित; वे एक आत्मा की ही बात कहते। 'भीतर कुछ और बाहर कुछ'-ऐसी विसंगति-विरुद्धता उनके जीवन में कभी भी नहीं देखी गयी। निर्मल दर्पणस के समान उनका जीवन सीधा-सादा और सरल था। उनकी वाणी में किसी की भी निन्दा नहीं होती थी। निन्दा कौन कर रहा है? क्यों कर रहा है? इसकी परवाह किये बिना सत्य की स्थापना करते और साधना के मार्ग पर अडिग रहते। विरोधियों के प्रति तो उनकी वाणी में करुणा बरसती। आत्मकल्याणी की बात आगम की साक्षीपूर्वक, तर्क से सिद्ध करके और आचार्यों-सन्तों को हृदय में रखकर, अनुभव-प्रमाण से, अति नम्रतापूर्वक परन्तु दृढ़ता से करते। जीवन को धर्ममय बनानेवाले गुरुदेव श्री लौकिक बातों से बहुत दूर रहते थे।

इस कलिकाल में एक ही पुरुष के जीवन में पवित्रता और पुण्य का सहज संयोग होना अति दुर्लभ है। परम पूज्य गुरुदेव ऐसे युगपुरुष थे, जो पवित्रता और पुण्य दोनों के धनी थे। उनके स्वर्ण जैसे पवित्र जीवन में पुण्यरूपी सुगन्ध मिली थी।

वे अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व के धनी महापुरुष थे। एक ओर जहाँ स्वच्छ श्वेत परिधान से सर्वांग ढँकी एकदम गोरी विराट काया, उस पर उगते सूर्य-समान तेजस्वी उन्नत भाल तथा कभी अन्तर्मग्न, कभी गम्भीर एवं कभी अन्तर में से प्रकट आनन्द हिलोर से खिलखिलाते गुलाब के पुष्प जैसा ब्रह्मतेज से जगमगाता मुखमण्डल हजारों श्रोताओं को चाहे वे उनकी वाणी में से कुछ भी न समझे तो भी मन्त्रमुग्ध करता था; वहीं दूसरी ओर स्वभाव से सरल, संसार से उदास, निरन्तर आत्मानुभव एवं स्वाध्याय में मग्न, विरोधियों के प्रति भी करुणा और समता रखनेवाले, निराभिमानी होने पर भी सिद्धान्तों की कीमत पर कभी न झुकने वाले, अत्यन्त निस्पृही और दृढ़ श्रद्धानी, गणधर जैसे विवेकी, वज्र से भी कठोर होने पर पुष्प से भी कोमल गुरुदेव श्री का अन्तःकरण बड़े-बड़े विद्वानों के आकर्षण का केन्द्र बना था।

कहानगुरु के व्यक्तित्व में एक तेज-आभा थी। उनके चारों ओर ज्ञान के तेज का आभामण्डल रचा हुआ था। उनकी अपूर्व, अस्खलित, अमृतमयी, मीठी, मधुरवाणी का जादू चारों तरफ फैलता था। उनकी प्रखर वाणी और आध्यात्मिक विचारधारा से प्रभावित होकर जैन समाज के विद्वान सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र जी लिखते हैं- 'कोई माने या न माने, परन्तु यदि कभी कोई तटस्थ इतिहासकार जैन समाज का इन तीन दशकों का इतिहास लिखेगा तो वह इस युग को 'कानजी-युग' के रूप में ही स्वीकार करेगा।'

पुरुषार्थ प्रेरणामूर्ति गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने अपने पूर्वभव में श्रीसीमन्धरस्वामी का मङ्गल दर्शन प्राप्त किया था और दिव्यध्वनि का वर्षों तक प्रत्यक्ष श्रवण भी किया था। आज से 2000 साल पूर्व महान दिगम्बर संत श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव जब विदेह क्षेत्र में पधरे थे, तब उनका प्रत्यक्ष दर्शन भी किया था। विदेह से भारतभूमि में पधारकर गुरुदेव ने अध्यात्म की ज्ञानगंगा बहाई। गत सैकड़ों वर्षों का जैन इतिहास बतलाता है कि भव्य जीवों के तारणहार और भविष्य के भगवान ऐसे महान युगपुरुष यदि कोई हुए हैं तो वह कृपासिन्धु स्वानुभूति प्राप्त पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी ही हैं।

सौराष्ट्र की धरती में न जाने ऐसी कोई विशेषता है कि उसने ऐसे महापुरुष को जन्म दिया। पूज्यश्री कानजीस्वामी ने 45-45 वर्ष के दीर्घकाल तक गुजरात राज्य के भावनगर

जिला में स्थित सोनगढ़ में रहकर आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का पथ प्रदर्शन किया। वे स्वयं उस मार्ग पर चले और दूसरों को भी चलने के प्रेरणास्रोत बने। सोनगढ़ जो कि मुमुक्षुओं में स्वर्णपुरी के नाम से प्रख्यात है, वह आज तीर्थधाम बन गया है। क्यों न बनें? क्योंकि ज्ञानी-धर्मात्मा-सन्तों के चरण जहाँ-जहाँ पड़ते हैं, वह स्थान तीर्थधाम बन जाता है, तो फिर सोनगढ़ तीर्थधाम क्यों न बने? वहाँ तो मोक्षमार्ग के पावन पथिक गुरुदेवश्री ने आत्मसाधना की और भव्यजीवों को आत्मसाधना का मार्ग दिखाया।

आज ऐसा कौन जैन होगा, जो गिरनार और शत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रा को गया हो, परन्तु सोनगढ़ न गया हो और वहाँ जाकर विशाल जिनमन्दिर, सुन्दर, समवसरणमन्दिर, भव्य मानस्तम्भ, अद्वितीय परमागममन्दिर, मनोरम्य पञ्चमेरु-नन्दीश्वर जिनालय और गुरुदेव की जीवनगाथा गानेवाले स्वाध्याय मन्दिर के दर्शन करके कृतार्थ न हुआ हो। ऐसा कौन आत्मार्थी मुमुक्षु साधक होगा, जिसने तू भगवान आत्मा है- ऐसी सिंह गर्जना से गूँजती गुरुदेव को कर्मभूमि सोनगढ़ न देखा हो और समयसार में वर्णित आत्मनाद के गीत न सुने हों। आज सोनगढ़, समयसार और पूज्यश्री कानजीस्वामी-ये तीनों पर्यायवाची बन गये हैं। सोनगढ़ के परमागममन्दिर में संगमरमर के पाटियों पर सर्वश्रेष्ठ दिगम्बर आचार्य श्रीकुन्दकुन्दाचार्य रचित पाँचों परमागमों को उत्कीर्ण कराके उनकी वाणी को अमर बना दिया गया है। आचार्यदेव का इससे उत्तम स्मारक दूसरा क्या हो सकता है? परन्तु पूज्य गुरुदेवश्री तो आचार्य कुन्दकुन्द और उनके समयसार के जीवन्त स्मारक थे। क्यों न हों? समयसार ने तो उनका जीवन बदल डाला था। एक समयसार शास्त्र पाकर उन्होंने क्या नहीं पाया? सब कुछ पाया।

अन्तिम तीर्थकर श्रीमहावीर भगवान द्वारा प्रकाशित, श्रीकुन्दकुन्दाचार्य आदि सन्तों द्वारा शास्त्रों में संगृहीत, तर्क से सिद्ध एवं अनुभव की कसौटी पर खरा उतरनेवाला अध्यात्मविद्या से विभूषित स्वानुभव प्रधान वीतराग जैनधर्म, रूचिग्रस्त, सम्प्रदाय और बाह्य क्रियाकाण्ड में फंसकर लुप्तप्राय हो रहा था। ऐसे इस विषम युग में भारत के सुपात्र जीवों के महापुण्योदय से इस धर्मपुरुष ने यहाँ जन्म लेकर वीतरागमार्ग में प्राण फूँक दिये हैं, आत्मआराधना का पथ प्रशस्त किया है और उसे चेतना प्रदान की है एवं सम्प्रदाय के बन्धनों से मुक्त करके लाखों जीवों में तत्व समझने की जिज्ञासा जाग्रत करके समझ के मार्ग में लगाया है। स्वानुभवरस गर्भित ज्ञानकला से जिनशसन के सूक्ष्म रहस्यों को प्रकट करके आत्मा की शक्तिरूप प्रभुता का विश्वास कराया है। धर्मजिज्ञासु जीवों पर जिनका अति



उपकार है- ऐसे अध्यात्मयुगस्रष्टा, वीतरागमार्ग प्रभावक, परमकृपालु पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी इस युग के जाज्वल्यमान और असाधारण बुद्धि सम्पन्न एक महान बहुमुखी व्यक्ति थे। उन्हें सातिशय प्रभावनायोग था। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से बहुत दूर जन्म लेकर किसी अन्य के आधार बिना स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से उसे जीवन में आत्मसात भी किया। इस जीवन में शुद्धात्मतत्व की देशना के लिये उन्हें किसी गुरु का योग मिला नहीं था। फिर भी उन्होंने तत्व को प्राप्त कर लिया था, क्योंकि गुरु की देशना उन्होंने पूर्व जन्म में ही प्राप्त कर ली थी। उससे प्राप्त संस्कार इस भवान्तर में भी उनके साथ रहे और उनसे अलौकिक प्रकाश फैला, आत्मानुभूति प्राप्त हुई और उन्होंने अलौकिक अध्यात्मक्रान्ति फैलाई।

अनादिकाल से भव-वन में भटकते भक्त जीवों को मोक्ष का सत्यमार्ग दिखानेवाले, संसार-समुद्र में डूबते जीवों को भेदज्ञानरूपी नौका द्वारा तारनेवाले तथा जन्म-जरा-मृत्यु के त्रिविध ताप से आकुल-व्याकुल भव्यों को दिव्यध्वनि के समान अमृतवाणी से शांत करनेवाले परमोपकारी करुणासागर पूज्यश्री कानजीस्वामी के गुणगान करने में कौन समर्थ है? क्योंकि उनके उपकार अनन्त हैं और जीभ एक है तथा शब्द भी थोड़े हैं। पृथ्वी के बराबर कागज ले और समुद्र के जल जितनी स्याही ले और वनवृक्षों की कलम से लिखे तो भी इन महापुरुष के गुण-जो कि अनन्त हैं वह लिखे नहीं जा सकते। ऐसे अनन्त गुणधारी भावी तीर्थंकर गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के प्रति भक्तिवश एवं उनके जीवन और कार्यों को जानने की उत्कंठा से उनके जीवनप्रसङ्गों को संकलित करने का यत्किंचित प्रयास किया है। उनकी यह जीवनगाथा सभी जीवों को सत् और सन्त-दोनों के प्रति परम बहुमान उत्पन्न कराके आत्मार्थिता का पोषण करेगी- ऐसी भावना है। आइये! हम सब उनकी प्रभावशाली जीवनगाथा का अवलोकन करें।

दिनांक 21 अप्रैल 1890, वि.सं. 1946 वैशाख शुक्ला द्वितीया को रविवार के शुभ दिन प्रातः काल की मङ्गलबेला में सौराष्ट्र के उमराला गाँव में प्रकाश जगमगा उठता है और उस दिन दो सूर्य उदित होते हैं। एक सूर्य आकाश में प्रखर गर्मी बरसाने को उदित होता है। जबकि दूसरा सूर्य लोगों के अज्ञान-अन्धकार का नाश करके सम्यग्ज्ञान प्रकाश फैलाने के लिये उदित होता है। अनादिकाल से परपदार्थों में से सुख लेने के लिये आकुलित हुई परिणति को परमशान्तरसरूपी अमृत का पान कराने के लिये जैसे ज्ञानधारा प्रगट होती है। ठीक उसी तरह यह सूर्य उदित हुआ हो, ऐसा लगता है। आज ग्रामवासियों के आनन्द का पार नहीं है।

प्रकृति भी आनन्द स प्रमुदित हो रही है। हररोज महाताप उत्पन्न करनेवाला सूर्य भी आज कुछ शीतल हो गया हो, ऐसा महसूस होता है। क्या कारण है ? लोग आनन्द से उल्लसित क्यों हो रहे हैं ? वातावरण में प्रफुल्लता क्यों है ? भारतवर्ष की बहुतरत्न वसुन्धरा क्यों नाच रही है ? गगन में दुन्दुभिनाद क्यों सुनाई दता है ? क्योंकि दशाश्रीमाली वणिक परिवार में श्री मोतीचन्दभाई के यहाँ उजमबा माता की कोख से जगत का उद्धार करने के लिये एक पवित्र आत्मा का आगमन हुआ है।

**उमराला धाम में रत्नों की वर्षा जनमे तारणहार रे.....**

**स्वर्ण रवि उगा भारत में ॥**

**उजमबा माता के नन्दन आनन्दकन्द शीतल पूनमचन्द रे.....**

**स्वर्ण रवि उगा भारत में ॥१ ॥**

**मोतीचन्द भाई के लाड़ले पुत्र अहो! धन्य माता कुल ग्राम रे.....**

**स्वर्ण रवि उगा भारत में ॥२ ॥**

**पञ्चम काल में कहान पधारे, साधक को आया सुकाल रे.....**

**स्वर्ण रवि उगा भारत में ॥३ ॥**

सगे सम्बन्धी उस बालक की कोई अनोखी मुखमुद्रा देखकर तृप्त नहीं होते, माता-पिता के हर्ष-प्रसन्नता का पार नहीं है। ज्योतिषी बालक के भविष्य को देखने आता है और बालक को विस्मित नेत्रों से देखते ही रहता है और घोषणा करता है, 'अहो! यह बालक तो जगत का तारणहार है। मानो आँगन में कोई असाधारण महात्मा पधारे हैं।' पवित्र, अलौकिक बालक के जन्म की बात सुनकर माता-पिता भावविभोर हो जाते हैं और बालक का नाम 'कानजी' रखा जाता है।

परिवार में कानजी सहित चार भाई हैं। सबसे बड़े दीपचन्दभाई, फिर खुशालभाई, उसके बाद स्वयं कानजी और लघुभ्राता मगनभाई। बाप-दादा का मूल गाँव गढ्ढा। उनके दादा गाँव में नगरसेठ और धनिक प्रमुख व्यक्ति थे। उनका नाम पुरुषोत्तम कुँवरजी होने पर भी वे 'गीगाकुरा' के नाम से प्रसिद्ध थे। वे कवि थे और काव्यरचना भी करते थे। गाँव में सबसे प्रथम मंजिलवाला मकान उन्हीं का था। वे वर्ष में धंधे की मौसम हो तभी मात्र दो माह

व्यापार करते और उससे जो भी आय हो उससे सन्तुष्ट रहते और अन्य दस माह निवृत्त से रहते। समय बीतने पर वे उमराला आकर बस गये।

उमराला के नैसर्गिक वातावरण में बालक कानजी वृद्धिगत होते हैं। अन्तर में व्यास निर्दोषता, कोमलता, निस्पृहता और उदासीनता मानो बाह्य देह में भी छा जाती है। बचपन से ही उनका स्वभाव शान्त और स्थिर है। उन होनहार महाप्रतापी पुरुष के मुख पर सौम्यता और वैराग्य की छाप ऐसी तो अंकित रहती है कि उनको देखकर लोगों के मन पर एक अमिट छाप पड़ जाती है। उनकी आँखों में बुद्धि और वीर्य का तेज सदा झलकता रहता है जो किसी असाधारणपने और अलौकिकता का दर्शन कराता है। उनकी तीक्ष्णदृष्टि, प्रत्येक वस्तु की गहराई में जाने की आदत, सर्वांग विचक्षण निरीक्षण और प्रत्येक बात के हार्द तक पहुँचकर निर्णय करने की शक्ति अजब-गजब की है। अतिशय गौरवर्ण और कोमल शरीर देखकर उनके मित्र उन्हें 'मेडम' कहकर भिड़ते हैं। रुई की पोली जैसा शरीर देखकर कुटुम्बीजन उन्हें 'पुई' कहकर बुलाते हैं।

सात वर्ष की उम्र होते बालक कानजी 'धूली शाला' में पढ़ने जाते हैं। वहाँ ऐसी पद्धति कि पहले धूल में अंक लिखना सिखावे और पक्का सीखने पर स्लेट में लिखावे। बालक कानजी सबसे पहले सीखता है, 'सिद्धो वर्णः समाम्नायः'। इसका अर्थ है- 'वर्ण उच्चारण की परम्परा स्वयं सिद्ध है।' तीव्र स्मरण शक्ति और प्रखर बुद्धि के कारण बालक कानजी कक्षा में प्रायः प्रथम क्रमांक में उत्तीर्ण होते हैं, फिर भी वे शाला के लौकिक अभ्यास से सन्तुष्ट नहीं होते। उन्हें अन्तर में खटक रहती है कि 'मैं जिसकी खोज में हूँ, वह इस पढ़ाई में नहीं है।' कभी-कभी वह खटक बहुत तीव्र हो जाती है। एक बार तो वे बाल महात्मा सत् के वियोग में माता से बिछुड़े बालक के समान खूब रोते हैं। वे होशियार विद्यार्थी होने के कारण शिक्षक ने कहा, 'मैं जो पाठ पढ़ानेवाला हूँ, उसे पहले से पढ़कर आना ताकि तुम क्या समझे हो और मैं क्या समझा रहा हूँ-इन दोनों का अन्तर ख्याल में आ जाये।'

लौकिक अभ्यास के साथ-साथ जैन पाठशाला में धार्मिक अभ्यास भी प्रारम्भ होता है और तेजस्वी विद्यार्थी होने से वहाँ भी प्रथम स्थान रखते हैं।

सन् 1900 अर्थात् वि.सं. 1956 में अतिशय दुष्काल पड़ता है। जिसे छप्पनिया दुकाल के नाम से जाना जाता है। 10 वर्ष के बालक कानजी पर इसका गहरा असर हाता है। आसपास भूख-प्यास से मरते हुए पशुओं को देखकर उनका मन तड़प उठता है। वे देखते हैं:



एक ग्वाला गाय पर सिर रखकर रोता है। उस गाय की आँख में भी आँसू हैं। यह असह्य वेदना उससे देखी नहीं जाती। परन्तु देखते रहने के अलावा वे बालक और कर भी क्या सकते? यह भयानक अकाल नन्हें से कानजी के हृदय में अत्यन्त करुण छाप छोड़ जाता है।

वि.सं. 1957, 11 वर्ष की आयु में वे एकबार जैन पाठशाला की सीड़िया उतरते हैं। तभी रतनचन्द्र नामक तेरापन्थी साधु को वैराग्यभरी मस्त चाल से चलते हुए देखते हैं। तुरन्त होनहार महापुरुष के हृदय में मानो बिजली का करण्ट जैसा लगता है। अंतरङ्ग में आश्चर्य होता है कि अहा! कैसी वैराग्य की धुन। कोई साथी-संगी नहीं, स्वयं मात्र। कैसी अद्भुत दशा! इस प्रकार बचपन से ही उनका चित्त वैराग्यमय जीवन के प्रति आकर्षित होता है।

बचपन से ही उनके व्यक्तित्व में नाशवान पदार्थों के प्रति उपेक्षा, शाश्वत हित की भावना, सत्यनिष्ठा, विचारशीलता, निर्भीकता, प्रामाणिकता जैसे अनेक आदर्श सद्गुण विकसित होते हैं। उनके शाला का सहपाठी बचपन का एक मित्र है। उनका नाम सुन्दरजी रूपा है। उसे ऐसी आदत कि नाक का मैल निकालकर दाँतों के बीच दबाए और फिर जीभ के द्वारा स्वाद ले। मित्रभाव से कानजी प्रेम से बार-बार कहते: सुन्दरजी! तू यह क्या करता है? तुझे यह शोभा नहीं देता। तब शरमाकर सुन्दरजी नीचे देखकर कहता: भाई! मैं क्या करूँ? मुझे आदत पड़ गयी है। इस पर से यह सिद्धान्त है कि इस जीव को भी राग द्वेषरूपी अशुद्धता का स्वाद लेने की ऐसी ही आदत पड़ी है न! समझ में आया?

समयान्तर में जैनशाला में किया जानेवाले धार्मिक अध्ययन की रुचि प्रेम से लौकिक पढ़ाई का रस घटता जाता है। भूमिति में उनका रस कम होता है। एक बार शिक्षक ध्यान खींचता है, 'अन्य विषयों में जैसे प्रथम नम्बर आता है उसी प्रकार भूमिति में भी प्रथम नम्बर आना चाहिए।' शिक्षक को क्या मालूम कि बालक कानजी ने भूमिति का अभ्यास छोड़कर कभी से तीन भुवन में सारभूत अभ्यास में अपना मन लगाया है। एक बार शिक्षक ने कहा: जैनशाला की पढ़ाई में कम ध्यान दो तो भी चलेगा। तब विद्यार्थी कानजी ने कहा: 'मेरे लिये तो जैनशाला का अभ्यास ही प्रथम और मुख्य है। यदि उसमें से समय मिलेगा तो यह पढ़ाई है।' उसके बाद 13 वर्ष की उम्र में छठवीं कक्षा तक पढ़ाई करके वे लौकिक शिक्षा को तिलाञ्जलि दे देते हैं। जो धर्मात्मा लोगों को मुक्त होने की विद्या सिखानेवाले हैं, उन्हें ऐसी तुच्छ लौकिक पढ़ाई में रस आ भी कैसे सकता है?

कानजी के घर के बाजू में मूलजीभाई नामक एक ब्राह्मण रहते हैं। जिन्हें कानजी

‘मूलजी मामा’ कहकर बुलाते हैं। वे नहाते समय गाया करते: ‘अनुभवी ने एकलूँ आनन्द मा रहेवुं रे...; भजवा परब्रह्म ने बीजूँ काँई न कहेबुँ रे...।’ यह पंक्ति कानजी को बहुत पसन्द आती। इसलिये मामा को बहुत बार पूछते: ‘मामा! आप यह क्या गाते हैं?’ तब मूलजी मामा कहते: ‘मुझे इसका अर्थ नहीं मालूम।’ यह सुनकर कानजी हँसते और कहते: ‘मामा! आप गाते हैं तो भी आपको इसका अर्थ नहीं मालूम? ऐसा कैसे चले?’

वि.सं. 1959 (सन् 1903) में उमराला में प्लेग फैलता है। इस रोग से बालक कानजी को बचाने के लिये माता ऊजमबा अपने लाडले पुत्र को उमराला से दूर गारियाधार गाँव भेजती हैं। बालक कानजी को ले जाने के लिए बैलगाड़ी तैयार है। तब माता ने कहा: ‘बेटा कनु! बेन को साई (स्मरण) कहना।’ ये है माता से सुने हुए अन्तिम शब्द और माता-पुत्र का अन्तिम मिलन। क्योंकि बाद में गारियाधार में समाचार मिलता है कि 48 वर्षीय माता ऊजमबा ने सदा के लिये विदा ली है।

गारियाधार में निवास के दौरान संस्कृत सीखने के लिये डेढ़ माह के लिये निजी ट्यूशन रखते हैं। जिसमें पञ्च सन्धि तक पढ़ते हैं। एक बार शिक्षक से पूछते हैं: ‘दश-अष्ट’ ठाणा अर्थात् क्या? [10+8=18 या 10x8=80] तब शिक्षक ने कहा: ‘मैं नहीं जानता; शास्त्रानुसार जो अर्थ हो, वह समझना।’ तब उनके मन में विचार आता है कि मात्र भाषाज्ञान से शास्त्र के भावों का सच्चा ज्ञान होगा नहीं। उसके लिये तो गुरुगम और शास्त्र का गहरा अभ्यास चाहिए।

सबसे बड़े भाई दीपचन्दजी का स्वर्गवास 28 वर्ष की यौवनावस्था में वि.सं. 1957 (सन् 1901) में हुआ था और अब वि.सं. 1959 में माता का भी वियोग होता है। सब भाई छोटी उम्र के होने से पिताजी अकेले पड़ जाते हैं। इस कारण और व्यवसाय के लिये रिश्तेदार पिताजी मोतीचन्द भाई को पालेज बुलाते हैं। अतः सम्वत् 1959 के अन्तिम माह में 13 वर्षीय कानजी भी पिता के साथ पालेज आते हैं। यहाँ पिताजी मोतीचन्द भाई भागीदारी में दुकान प्रारम्भ करते हैं। परन्तु 4 वर्ष पश्चात् सन् 1907 में 53 वर्षीय पिताजी इस नश्वरदेह का त्याग करके विदा लेते हैं। यौवन के प्रथम चरण में पाँव रखते ही कानजी को एक के बाद एक आघात सहन करने पड़ते हैं। अरे! संसार के ऐसे दुःख! बस अब ऐसे दुःख से बस होओ! बस होओ! पिताजी की जगह अब दुकान पर बैठने की बारी आती है। उदासीनवृत्ति से फिर भी ईमानदारी और कुशलतापूर्वक व्यापार प्रारम्भ करते हैं। कभी किसी को कम तौलकर सामान देते नहीं।

युवा कानजी व्यापार प्रारम्भ करते हैं। पर वैराग्य के कारण व्यापार प्रति उदासीन रहते हैं। कहीं भी रस नहीं लगता। दुकान में भी मुख्यतः कानजी का मन तो वैराग्यप्रेरक धर्मग्रन्थ पढ़ने में ही मग्न रहता है। उन्हें दुकान पर बैठना बहुत अच्छा नहीं लगता, फिर भी भागीदार की अनुपस्थिति में बैठना पड़ता है; दुकान में बैठे-बैठे भी ध्यान तो जो पढ़ना शेष रह गया है उस ओर ही रहता है। इसलिए भागीदारी के वापिस आते ही, उसी क्षण पुनः शास्त्र खोलकर पढ़ने बैठ जाते हैं।

गाँव में कोई साधु आये तो कानजी के लिए उत्सव जैसा प्रसङ्ग बन जाता है। वे साधु के आहार-पानी की व्यवस्था के लिये दौड़ पड़ते हैं। चातुर्मास के समय प्रतिमाह के चार तथा पर्यूषणपर्व में निर्जल चार उपवास करते हैं। पर्यूषण में प्रतिक्रमण भी कराते हैं। इस प्रकार व्यापार करते हुए भी धार्मिक प्रवृत्ति, रस और रुचि कम नहीं होते। सदा ऐसी भावना रहती है कि ऐसा कुछ करना है जिससे भव का अन्त आ जाये। सज्जनता, उदासीन जीवन, सरल स्वभाव, बाह्य में रसहीन प्रवृत्ति और विशेष धार्मिक रुचि आदि सद्गुणों के कारण सभी सगे सम्बन्धी उन्हें प्रेम से 'भगत' नाम से सम्बोधन करते हैं। भगत का मन व्यापारमय या संसारमय कभी नहीं होता। अन्दर उनका आत्मा अलग ही शोध में है। उनका अन्तर झुकाव सदा धर्म और सत्य की खोज प्रति ही होता है।

वि.स. 1963 में 17 वर्षीय कानजी दुकान में बैठे हैं। वहाँ पुलिस का एक सिपाही बख्शीश लेने आता है। कानजी आठ आना बख्शीश देते हैं। सिपाही कहता है: 'आठ आना नहीं, रुपया दो।' कानजी कहते हैं: 'क्यों भाई! एक रुपया सिकलिये? हमें तुमसे क्या लेना-देना? हमारा धन्धा सीधा है, इसलिए हमें तुम्हारी क्या जरूरत पड़े? सो आठ आना ठीक है।' सिपाही कहता है: 'नहीं पूरा रुपया दो।' इस तरह चिकचिक होती है। कोई भी व्यक्ति अपनी बात कानजी पर अन्याय से जबरदस्ती मनाने का प्रयत्न करे, यह उन्हें स्वीकार्य नहीं। बस, सिपाही नाराज होकर पैसा लिये बिना चला जाता है। कुछ ही दिनों में बड़ौदा जाकर पुलिस ने 'तुम अफीम का धन्धा करते हो' ऐसा झूठा आरोप लगाकर केस कर दिया। अतः बड़ौदा की कोर्ट में जाना होता है। कानजी के मुख पर झलकती निर्दोष व्यक्तित्व की सरलता और निर्भीकता की गहरी छाप अंग्रेज जज पर पड़ती है। वह कानजी को आरोपी के कटघरे के बजाय आदरसहित बाहर खड़ा करके प्रश्न करते हैं। 3 घण्टे पूछताछ चलती है। सत्यनिष्ठ और प्रामाणिक कानजी को कुछ छिपाना तो है नहीं। अतः सत्य कहने में आपत्ति क्यों हो? वे तो जो सत्य था, जो बात बनी थी वह सभी पूर्ण निर्भीकतापूर्वक निर्दोषभाव से निःशंक

होकर स्पष्टता से एवं धैर्य और गंभीरता से कह देते हैं। बाहर सगे सम्बन्धी चिन्ताग्रस्त है। क्योंकि पूछताछ लम्बी चली न? उन्हें चिन्ता होती है कि 'क्या हुआ होगा?' अतः जैसे ही कानजी बाहर आते हैं। तुरन्त ही सगे-सम्बन्धी उनके अगल-बगल में खड़े हो जाते हैं और पूछते हैं 'क्या हुआ भाई?' कानजी ने कहा: 'क्या हुआ क्या? कुछ भी नहीं हुआ। मैंने तो जो कुछ घटना घटी थी, वह कह दी।' बाद में सच्चाई जानने के लिए अदालत पालेज आती है और निर्णय देती है 'केस बिलकुल झूठा है।' न्यायाधीश हुक्म करता है: 'मुकदमे के लिये जो कुछ खर्च हुआ है, वह सिपाही से वसूल कर सकते हो।' सिपाही गरीब होने से कानजी करुणा करते हैं और विचारते हैं: 'जाने दो। उसके परिणामों का फल वह भोगेगा।' 'क्षमा वीरस्य भूषणम्।'—ऐसे हैं करुणासागर, न्यायरीति पर चलने वाले नौजवान कानजी।

युवा कानजी की सत्यनिष्ठा भी उनके व्यक्तित्व जैसे ही अलौकिक। एक बार भागीदार के साथ माल खरीदने मुम्बई जाना होता है। ट्रेन द्वारा वापस आने के समय निर्धारित सीमा से अधिक सामान हो जाता है। इसलिये मुम्बई स्टेशन पर भागीदार को अतिरिक्त वजन के लिए टिकट बनवाने को कहते हैं। तब भागीदार कहते हैं: 'अतिरिक्त वजन का टिकट क्यों लेना? यहाँ से बैठने के बाद कौन पूछनेवाला है? और पालेज में स्टेशनमास्टर हमारे पहचानवाला है, इसलिए वह कुछ नहीं करेगा, बाहर जाने देगा।' इस बात से कानजी के मन में दुःख होता है। उन्होंने तुरन्त ही कहा: 'कोई पूछे या न पूछे, नियम का पालन तो करना ही चाहिए। अपने से अंशमात्र गलत काम कैसे हो?' भागीदार को कानजी की नियमबद्धता के सामने झुकना पड़ता है और अधिक वजन का टिकिट लेना पड़ता है।

ऐसा ही एक दूसरा प्रसङ्ग भी स्मरणीय है। मुम्बई में वे जिस दुकान से माल खरीदते हैं, उस दुकान का नौकर उमराला का है और परिचित है। एक बार वह बिल के अनुसार माल देकर मालिक की जानकारी बिना अधिक माल देता है और अलग से पैसे माँगता है। ईमानदार कानजी कहते हैं: 'नहीं! चोरी का माल हमें नहीं चलेगा। हम तो बिल के अनुसार जितना पैसा दुकान में दिया है, उतना ही माल लेंगे।'

इस प्रकार प्रामाणिकता से व्यापार करते हुए, पेढ़ी की साख तो बढ़ती है, परन्तु उन्हें अन्तर में सन्तोष नहीं हाता, क्योंकि वे जिसकी खोज में हैं, वह अभी प्राप्त नहीं हुआ है। व्यापार में या संसार में कहीं भी मन नहीं लगता। इसलिए दुकान पर भी शास्त्र पढ़ते हैं और अधिक समय धार्मिक कार्यों में ही व्यतीत करते हैं।

सत्यनिष्ठा, नैतिकता और प्रामाणिकता के साथ-साथ भरी जवानी में भी नवयुवक कानजी के रोम-रोम में वैराग्य की लगन तीव्र है।

अब ऐसे दिन आते हैं कि जिसके प्रत्येक प्रसङ्ग वैराग्य के पथदर्शक बनने लगते हैं। दुकान का माल खरीदने बार-बार बाहर गाँव जाना पड़ता है। तब शाम को फुरसत के समय नाटक देखने जाते हैं। उस समय में नाटक दिखाने के वक्त नाटक के संवाद की पुस्तिका भी मिलती। कानजी यह पुस्तिका अवश्य खरीदते ताकि नाटक में क्या कहना चाहते हैं, उसका भावार्थ बराबर समझा जा सके। [बाद में इसी पद्धति का अनुकरण उन्होंने किया था। जब वे प्रवचन करते तभी श्रोता भी शास्त्र हाथ में रखे ऐसा आग्रह रखते। जिससे किस शब्द का क्या अर्थ होता है—वह समझ में आ सके।] वर्तमान में नाटक देखने के समय दुनिया क जीवों का मन शृंगार पोषक प्रसङ्गों में ही रमता है; परन्तु अतिशय आश्चर्य की बात तो यह है कि कानजी शृंगार के भावों को ग्रहण न करके वैराग्य भावों को ही ग्रहण करते हैं और लम्बे समय तक उनका गहरा असर रहता है। उनके चित्त में वैराग्य भावों का ही घुटन निरन्तर रहता है। नाटक में से और लोग जब अन्य रस ग्रहण करते तब उसी नाटक के अन्य कोई भी रस का असर उनके चित्त पर न होकर वैराग्यप्रेरक दृश्य से उनका आत्मा वैराग्यरस से भीग जाता है।

वि.स. 1963 (सन् 1907) में पालेज में रामलीला मण्डली आती है। रात्रि में निवृत्ति होने से वे रामलीला देखने जाते हैं। एक ओर बहुत ही वैराग्य से रामलीला हो रही है और दूसरी ओर कानजी की हृदय-उर्मियाँ वैराग्य के शांतरस से भीगी जा रही हैं। युवा कानजी को यह रामलीला देखकर वैराग्य की धून ऐसी तो उछलती है कि वैराग्यभाव से भरपूर एक काव्य सहज प्रस्फुटित हो जाता है। स्वयं तो व्यापारी हैं, कवि नहीं; फिर भी अन्तर की स्फुरण के काव्य बन जाता है। भव्यता से शोभित यह काव्य आनेवाले भव्य भविष्य का सूचक है। मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य का सूचक और पूर्व आराधना से सिञ्चित संस्कारों का एक अंकुर फूट पड़ता है और रोम-रोम उल्लसित होते हैं और भावनाओं के प्रवाह में ऐसी बारह पंक्तियों के छह छन्द बन जाते हैं। प्रथम बार अव्यक्तरूप से पूर्व के संस्कार प्रगट होते हैं। इस पंक्ति का अर्थ जैसा है कि तू इस जगत की स्त्री में रमनेवाला नहीं है, तू तो शिव अर्थात् मुक्तिरूपी रमणी में रमनेवाला है और तू देवाधिदेव अर्थात् तीर्थकर है। अहा! धन्य है इस वैराग्य को! उदासीनता को! धन्य है उन महात्माओं को जो सांसारिक रस के प्रबल प्रसंगों में भी वैराग्य भावना जागृत करते हैं। यह काव्य अपनी डायरी में लिख तो लेते हैं,



परन्तु बाद में गांव का तालाब फटने से दुकान में पानी भर जाता है और इस वजह से वह डायरी भीग जाती है।

एकबार 'राजा भर्तृहरि' का नाटक देखते हैं। उसमें ऐसा आता है कि उदासीन होने पर राजा भर्तृहरि राज्य छोड़कर साधु हो जाते हैं और फिर गीत हैं: 'देखा नहीं कुछ सार जगत में, देखा नहीं कुछ सार.....' यह पंक्ति उनके हृदय में ऐसी तो गूँजती है कि उन्हें संसार वास्तव में असार लगने लगता है। देखो तो सहि! पात्र जीवों के संस्कार! अहा! कैसे निमित्तों में प्रसङ्गों में भी उछल जाते हैं।

इन्हीं दिनों में भावनगर में 'ध्रुव' का नाटक देखते हैं। एक बार भरुच में 'मीराबाई' नामक नाटक देखते हैं। उसके कुछ वैराग्य-प्रसङ्गों का उन पर ऐसा गहरा असर होता है कि उस नाटक के गीतों की पंक्तियों के आधार पर बाद के वर्षों में प्रवचन में वे गाते: 'लगनी लागी मारा आतमानी साथ, रागना मीढोल नहीं रे बाँधू प्रभु! नहीं रे बाँधू.....लगनी लागी मारा आतमानी साथ....।'

वि.सं. 1964 में (सन् 1908 में) अट्ठारह वर्ष की उम्र में वे बड़ौदा में 'सती अनसुया' नाटक देखते हैं। उसमें ऐसा आता है कि सती अनसुया अपने पुत्र को सुलाती हुई गाती है: 'बेटा! शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि, निर्विकल्पोऽसि, उदासीनोऽसि....।' इसी आशय के अनेक शब्द होते हैं लेकिन ये चार शब्द ही याद रहे हैं। ये शब्द मन की गहराई में ऐसे समा गये कि सतत मन में रमते हैं। इनका अर्थ इस प्रकार है: 'बेटा! तू शुद्ध है, बुद्ध अर्थात् ज्ञानस्वरूपी है, पवित्र ज्ञान की मूर्ति हो, निर्विकल्प अर्थात् रागरहित वस्तु है, उदासीन है अर्थात् तेरा आसन सारी दुनिया से भिन्न है।' बस, अब तो मानो वैराग्य के बहते हुए झरने को ढाल मिल गई और पूर के समान उमड़ते हुए वैराग्य के झरने के बीच में उन्हें ऐसा कुछ भासित होने लगा कि मानो मैं स्वयं शुद्ध बुद्ध हूँ, पूर्व में रुचिपूर्वक झेले हुए अध्यात्म के संस्कार पुनः उछलने लगते हैं। यह सिद्धान्त है न! कि एक बार भी यथार्थ रुचिपूर्वक झेले हुए स्वरूप के संस्कार कभी निष्फल नहीं होते। इस प्रकार नाटक के वैराग्य प्रसङ्ग भी उनके हृदय पर गहरी असर करते हैं। बचपन से ही वैराग्य का रस है न!

वि.स. 1964-65 (सन् 1908-09) की बात है। पालेज में उनके एक सम्बन्धी गाया करते:

जगतड़ा कहे छे के भगतड़ा घेला छे।  
पण घेला न मानशो रे प्रभु ने त्याँ ए पहेला छे ॥

जगतड़ा कहे छे के भगतड़ा काला छे।  
पणा काला न मानशो रे प्रभु ने ए व्हाला छे ॥

नवयुवक कानजी को ये पंक्तियाँ बहुत अच्छी लगती, क्योंकि सगे सम्बन्धी उन्हें 'भगत' कहते हैं न! व्यावहारिक प्रसङ्गों में होशियार कहे जानेवाले लोग उन्हें 'भोला' समझते हैं, किन्तु मन में वे सोचते हैं कि हमें घेला अर्थात् भोला न समझना, क्योंकि प्रभु के पास तो हम पहले हैं। अरे! हमें 'काला' मत समझो, क्योंकि हम तो प्रभु को व्हाला अर्थात् प्यारे हैं।

एकबार ऐसा होता है कि बाहर गाँव के एक परिचित व्यापारी पालेज आते हैं। उनका भोजन घर में होना था। इसलिये कानजी से भागीदार कहते हैं: 'घर जाकर कह दो कि मेहमान जीमेंगे।' उन्होंने घर जाकर मेहमान जीमेंगे ऐसा कह तो दिया, परन्तु मिष्ठान्न बनाना ऐसी स्पष्टता नहीं की। मेहमान के साथ सब भोजन के लिये घर आते हैं। खाना परोसा जाता है मगर मिष्ठान्न परोसा नहीं गया। इसलिये भागीदार ऊँची आवाज से कहते हैं: 'कौन कहने आया था? मेहमान भोजन के लिये आनेवाले हैं, यह मालूम नहीं था क्या? मिष्ठान्न बनाना चाहिये न?' तब उत्तर मिलता है: 'भगत आये थे कहने के लिये, परन्तु उन्होंने खुलासा नहीं किया था कि मिष्ठान्न बनाना है।' तब भागीदार बोले: 'भगत तो ऐसे ही हैं, उन्हें कुछ खबर ही नहीं।' अहा! देखो तो सही घर में रहते हुए भी और व्यापारादि कार्य करते हुए भी उनका मन कितना अलिप्त रहता है। वास्तव में तो बाह्य किसी भी प्रसंगों में उनका मन लगता ही नहीं। उनकी अन्तर भावना कुछ अलग ही है।

पालेज में एक बार सब भोजन के लिए बैठे हैं। भोजन में अचार परोसा जाता है। उन्हें विचार आता है: यह अचार कहाँ रखा जाता है और कहाँ से लाया जाता है? जरा देखूँ तो सही। यह सोचकर जहाँ बरनी रखी जाती है वहाँ जाकर देखते हैं तो बरनी पर एक मैला कपड़ा लिपटा हुआ था, जिस पर असंख्य कीड़े रेंग रहे हैं। यह दृश्य देखते ही उनके मन में टीस उठी: अरे रे! जब यही बरनी खुलेगी तो यह कीड़े अचार में गिर जायेंगे और ऐसा अचार हमें खाना! यह तो मांसाहार जैसा हुआ। बस उस दिन से अर्थात् वि.सं. 1965 से 19 वर्ष की उम्र से अचार खाना छोड़ देते हैं तथा रात्रि में भोजन और पानी का त्याग करते हैं।

वे पालेज की दुकान में ही 'सज्जायमाला' के चार भाग पढ़ते हैं। उसकी दो बातें उन्हें बहुत अच्छी लगती हैं। एक यह है कि 'केवली आगल रही गयो कोरो' और दूसरी यह है कि 'द्रव्य संयम से ग्रैवेयक पायो फेर पीछो पटक्यो।' ये पंक्तियाँ पढ़ते समय मन में विचार आता है कि अहो! यह क्या कहते हैं ?

उनका कण्ठ बहुत मधुर है, इसलिए मुसलमान भाई भी कहते: 'कानजीभाई पद गाईये।' और जब वे सज्जायमाला के पद गाते, तब आसपास के बहुत से लोग सुनने आते।

वि.सं. 1965-66 (सन् 1909-10) की बात है पालेज स्टेशन के समीपस्थ धर्मशाला में दो साधुओं में चर्चा होती है। धर्म का रस होने से कानजी भी सुनने जाते हैं। एक साधु कहता है: इस जगत और सब पदार्थों को ईश्वर ने बनाया है। तब दूसरा साधु कहता है : 'यदि इस जगत को ईश्वर ने बनाया है तो ईश्वर को किसने बनाया ? और कहाँ खड़े रहकर उसने जगत को बनाया ? सब समान कहाँ से लाया ?' फिर वह जैन लोगों से समर्थन माँगते हुए कहता है: 'क्यों जैनियो! ठीक है न ?' वह जानता था कि जैनधर्म ईश्वर को जगत का कर्ता नहीं मानता। यह प्रसङ्ग भी उसकी धर्म जिज्ञासा को दिखलाता है।

वि.सं. 1966 एक बार 20 वर्षीय नवयुवक कानजी भागीदार के साथ दुकान पर बैठे हैं। भोजन का समय हो जाने से वे जाने की तैयारी में हैं, तब सहज ही वे भागीदार से कहते हैं: 'इतनी ममता ? मुझे ता ऐसा लगता है कि मरकर तिर्यच में जाओगे। क्योंकि तुम्हारा इतना पुण्य तो है नहीं कि स्वर्ग में जाओ ! पुण्य नहीं होने से स्वर्ग में जाने का लक्षण दिखायी नहीं देते एवं मनुष्य पुनः हो ऐसा भी मुझे दिखायी नहीं देता और मांसभक्षण, शराब, जुआ आदि पाप भी नहीं करते, इसलिए नरक में भी नहीं जाओगे। बस ! एक तिर्यचगति रही। याद रखो ! इतनी ममता है तो मरकर पशु बनोगे।'

भागीदार उम्र में बड़े हैं। तो भी भागीदार बात चुपचाप सुन लेते हैं, कुछ नहीं बोलते। क्योंकि सगे-सम्बन्धि कहते: 'भगत' जो कहे सो सुन लिया करो। वह जो कुछ भी कहते होंगे वह समझकर ही कहत होंगे। अहा ! व्यापार तो कानजी भी करते थे। परन्तु इतनी ज्यादा ममता या आकुलता नहीं है। जबकि भागीदार को इतना अभिमान है कि सब कुछ मैं ही करता हूँ। मैं अच्छी तरह दुकान चलाता हूँ। दूसरों की दुकानें बर्बाद हो गई हैं और मेरी दुकान सबसे अच्छी चलती है। दुकान के नौकर सेठ-सेठ कहकर बुलाते हैं तो यह सुनकर खुश हो जाते हैं। वे अनेक बार भागीदार से कहते: 'गाँव में साधु आये हैं, उनके पास तो जाओ।'

परन्तु वह दुकान बन्द करके, खाता-बही लिखकर और सब काम निपटाकर ही रात्रि में साधु के पास जाते हैं। तब साधु कहते: 'रातड़िया-श्रावक आया।' जबकि कानजी को बाह्य के सांसारिक कार्यों में रस न होने से और धर्म का रस होने से गाँव में साधु को देखते ही उनके पास दौड़ पड़ते हैं।

वि.सं. 1968 के माघ मास में (सन् 1912 में) वे दुकान का माल खरीदने अन्तिम बार मुम्बई जाते हैं और पालेजवाले मगनलाल आड़तिया के घर ठहरते हैं। खाने का वक्त होने पर वे दोनों भोजन के लिये बैठते हैं। मगनभाई किसी का फोन आने पर बीच में उठते हैं। यह देखकर नवयुवक कानजी कहते हैं: 'तुम खाने के लिए कमाते हो, फिर भी खाते समय भी शान्ति नहीं?'

इस प्रकार पालेज में वि.सं. 1963 से 1968 (1907 से 1912) तक पाँच वर्ष दुकान का व्यापार संभालते हैं। इसी बीच वैराग्य का पलड़ा ज्यादा से ज्यादा झुकता जाता है। उनका अन्तर-व्यापार बाह्य-व्यापारादि से कुछ अलग ही हैं। धर्म और सत्य की शोध का अन्तर व्यापार मन में रहता ही है। ज्ञान के व्यापार के अभिलासी कानजी का मन, धन के व्यापार में नहीं लगा तो नहीं लगा। और उन्हें दीक्षा लेने का भाव जागृत होता है।

बड़े भाई खुशहालभाई का इन्हीं दिनों विवाह होता है और कानजी के रिश्ते की चर्चा होती है। जिसके संसार का किनारा अब निकट है और जो थोड़े ही भव में मुक्तिकामिनी को वरनेवाले हैं ऐसे कानजी के लिए बड़े लखपति घर की कन्या का प्रस्ताव आता है। इसलिए खुशाल भाई दुकान पर आते हैं और कहते हैं: भाई! तुम्हारी सगाई करनी है, तैयार रहना। तुरन्त ही राग के प्रवाह में खींचे बिना आत्मविश्वास से कानजी कह देते हैं- 'बड़े भैया! मेरा नाम न लेना। मेरा तो आजन्म ब्रह्मचर्य है और मेरी भावना दीक्षा लेने की है।' उनकी उच्च लोकोत्तर भावना को कामिनी की माधुर्य परास्त नहीं कर सका और वे किसी भी कीमत पर अपने जीवन में स्त्री को स्वीकार करने समन्त नहीं हुए।

इस प्रकार वैराग्य उदासीन रस से भीगे हुए कानजी विवाह के लिये स्पष्ट शब्दों में साफ साफ मना कर देते हैं। उनके एकमात्र वडील के रूप में बड़े भाई खुशालभाई ही हैं और उनका कानजी पर बहुत प्रेम। इसलिए वे उन्हें दीक्षा न लेने के लिए समझाने हेतु प्रेम से कहते हैं : भाई! अगर तुम्हें विवाह नहीं करना हो तो कोई बात नहीं, तुम्हारी इच्छा; और दुकान पर न बैठना हो तो भी कोई बात नहीं, परन्तु दीक्षा मत लो। तुम उमराला में अपने घर

में निवृत्ति से रहना। जो भी खर्चा लगेगा, हम भेज देंगे, परन्तु दीक्षा मत लो। इस प्रकार बहुत समझाने पर भी उन महात्मा के वैराग्य से भीगे मन को दुकान में, घर में या संसार में रहना नहीं भाया तो नहीं भाया। अन्य सभी प्रियजन भी दीक्षा न लेने के लिए समझाते हैं, परन्तु वे अपनी भावना में, अपने निर्णय पर अडिग रहते हैं। वे सभी को एक ही उत्तर देते हैं: 'भाई! आप कुछ भी कहो, परन्तु मुझे तो मेरे आत्मा का हित करना ही है। निजकल्याण हेतु धर्मसाधना करने के लिए मुझे दीक्षा लेनी ही है।'

वि.सं. 1968 (सन् 1912) के वैशाख माह में एक दिन 22 वर्षीय युवा कानजी अपने जीवन में एक महत्वपूर्ण निर्णय लेते हैं। बहुत समय से उन्हें कुटुम्ब तथा धन्धा-व्यापार में अंशमात्र रस रहा नहीं है। इसलिए वे सबको छोड़कर प्रथम अभ्यास के लिए और बाद में दीक्षा लेने के लिए दुकान छोड़ते हैं। वे सोचते हैं: 'यह भव, भव का अभाव करने के लिए मिला है, इसलिए अब शीघ्र ही गुरु के पास जाकर अध्ययन करना है और फिर दीक्षा लेकर आत्मकल्याण करना है।'

अन्तरङ्ग में संसार और भोगों से विरक्ति बढ़ती जाती है, परन्तु दीक्षा लेने के लिए कोई आत्मार्थी गुरु तो चाहिए न! अतः योग्य गुरु की शोध प्रारम्भ होती है। काठियाबाड़, गुजरात और मारवाड़ के अनेक गांवों में घूमते हैं, अनेक साधुओं से मिलते हैं, परन्तु कहीं मन को सन्तोष नहीं होता। सत्य बात तो यह है कि पूर्वभव की अधूरी रही हुई साधना से अवतरित यह महात्मा स्वयं ही गुरु होने योग्य हैं। अन्ततः बोट्याद सम्प्रदाय के हीराचन्दजी महाराज की पसन्दगी होती है। वे एकदम सरल, वैरागी, निस्पृह और शान्त प्रकृति के भद्र परिणामी साधु हैं। सम्प्रदाय की क्रियाओं को दृढ़तापूर्वक पालते हैं और मन्दकषायी हैं। अतः यहाँ मन को संतोष होता है और उनसे दीक्षा लेने का तय होता है।

दीक्षा लेने के पूर्व 'खस' गाँव में वे ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा देने के लिए गुरु से निवेदन करते हैं। गुरु अन्य शिष्यों को बुलाते हैं और कहते हैं: 'यह मोतीचन्द सेठ का लड़का ब्रह्मचर्य लेना चाहता है, परन्तु इसने बड़े भाई से आज्ञा नहीं ली है।' तब कानजी कहते हैं: 'महाराज! मैं स्वतंत्र हूँ। मुझ पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। अतः आप निःसंकोच होकर प्रतिज्ञा दें।' इस प्रकार आत्मविश्वास पूर्वक होनहार महात्मा संसार का बंधन अच्छा नहीं लगने से कुमारवय में भरी सभा में ब्रह्मचर्य पालने की प्रतिज्ञा लेते हैं।

वे पालेज छोड़ते हैं और गुरु के पास जाकर अध्ययन करना प्रारम्भ करते हैं। पालियाद



में 3 1ह रहकर अध्ययन करते हैं। इन दिनों षट्गुणी हानि-वृद्धि के बोल सीखते हैं। इसके पश्चात पालेज में रहने वाले रिश्तेदारों से दीक्षा की अनुमति लेने के लिए पालियाद से पालेज प्रस्थान करते हैं। मार्ग में बोटद रुकना पड़ता है। वहाँ गुलाचन्द जी नामक साधु मिलते हैं। उनके साथ चर्चा होने पर वे कहते हैं: 'साध के रहने के उद्देश्य से बनाये गये मकान में साधु को नहीं ठहरना चाहिए, क्योंकि इससे अनुमोदना की कोटि भंग होती है और एक कोटि टूटने पर नव (सभी) कोटी टूटती है।' कानजी सोच में पड़ जाते हैं चिन्तन करने पर उन्हें यह बात तो सत्य मालूम पड़ती है कि साधुओं के लिए निर्मत मकान में अर्थात् उपाश्रय में साधुओं को नहीं रहना चाहिए। फिर यह सब क्या हो रहा है? सभी साधु तो उपाश्रय में ही रहते हैं। मैं भी साधु होने के बाद उसमें ही रहनेवाला हूँ। यदि मैं उसमें रहूँगा तो अनुमोदना कोटि टूटेगी और एक कोटी टूटेगी तो सभी कोटि टूटेगी, अखण्ड रहेगी नहीं। ऐसा सोचते हुए ऐसी इच्छा हो गई कि थोड़े समय के लिए दीक्षा लेना स्थगित करूँ। परन्तु तुरन्तज ही दूसरा विचार आता है कि ना, ऐसा नहीं करना चाहिये। गुरु से पूछना चाहिये। ऐसा सोचकर वि.सं. 1969 (सन् 1913) में राणपुर में राणपुर में गुरु से पूछते हैं: 'महाराज! यदि साधु उपाश्रय में ठहरते हैं तो कौन-सी कोटि टूटती है?' गुरु को मालूम था कि यह दीक्षा लेनेवाला है। अतः प्रेम से समझाते हुए कहत हैं: 'खुशालभाई तुम्हारे लिये मकान बनायें और तुम उसमें रहा तो क्या आपत्ति है?' उन्हें यह उत्तर ठीक नहीं लगता और उससे मन में सन्तोष भी नहीं होता। क्योंकि इस प्रकार उपाश्रय में रहने से तो अनुमोदना होती है और अनुमोदना की एक कोटि टूटने पर सभी कोटि टूटती हैं। अतः आठ महीने तो इसी ऊहापोह में निकालते हैं कि क्या करना? दीक्षा लेना या नहीं?

मैंने दीक्षा लेने का निर्णय तो किया है, परन्तु जिस पन्थ में मुझे दीक्षा लेना है, उसमें यदि मेरी शंकाओं का समाधान न हो तो, मेरे प्रश्नों का उत्तर न मिले तो सत्य कहाँ से मिलेगा? इस प्रकार विचार-मन्थन खूब चलता है। लेकिन बाद में विचार आता है कि चलो, दुकान तो छोड़ी है और साथ में ब्रह्मचर्य भी लिया है, अतः दीक्षा तो ले लें, परन्तु सत्य तो स्वयं को ही खोजना पड़ेगा। ऐसा विचार करके कानजी सबकी अनुमति लेने के लिए पालेज जाते हैं और वहाँ से उमराला आते हैं। वि.सं. 1970 (सन् 1913) में मगसिर कृष्णा अमावस्या को उमराला में रुगनाथ सेठ की दुकान पर निश्चित होता है कि मगसिर शुक्ला नवमी रविवार को दीक्षा विधि करना। जिसकी बहुत दिनों से इच्छा थी, वह दीक्षा लेने की भावना आज अनुमति मिलने पर फलीभूत होती है।

इ.सं. 1913 अर्थात् वि.सं. 1970 के मगसिर शुक्ला नवमी रविवार के दिन उमराला में चौबीस वर्ष की भरी जवानी में निजकल्याण की भावना से गृहस्थ जीवन का त्यागकर कानजी स्थानकवासी सम्प्रदाय का दीक्षा जीवन स्वीकार करते हैं। एकान्त और निवृत्तिप्रेमी इस महात्मा को कहीं अच्छा नहीं लगता था। अतः निवृत्ति से धर्मसाधना करने के लिए सगे-स्नेहीजन और प्रतिष्ठित उज्वल गृहस्थ जीवन का उदासीन भाव से त्याग करते हैं और दीक्षा ग्रहण करते हैं। दीक्षा महोत्सव बहुत धूमधाम से मनाया जाता है। जिसमें लगभग 2000 लोग उमड़ पड़ते हैं। उस जमाने में बड़े भाई खुशालभाई 1800 रुपये का खर्च करता है। दीक्षायत्रा के लिए विशेषरूप से वल्लभीपुर से हाथी मँगाया जाता है। जिस पर चढ़ते समय सीढ़ी में फँसकर धोती फट जाती है। अतः उन्हें शंका होती है कि कुछ गलत हो रहा है; पर उससे विशेष कुछ ख्याल में आता नहीं है। जिसका स्पष्टीकरण बाद में हुआ कि मुनिपना वस्त्र सहित नहीं होता। स्वयं के द्वारा सनातन दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार होने का यह प्राकृतिक संकेत है।

दीक्षा लेने के तत्काल बाद श्वेताम्बर शास्त्रों का गहन अभ्यास प्रारम्भ होता है। शास्त्राभ्यास की ऐसी धुन लगती है कि भोजनादि शारीरिक आवश्यकताओं में समय गँवाना भी खटकता है, स्वीकार्य नहीं। कोई दर्शन करने आये तो भी उसके सामने नहीं देखते, मात्र अध्ययन में ही तन्मय रहते हैं। सारे दिन उपाश्रय के किसी एकान्त स्थान में अध्ययन करते दिखाई देते हैं। शास्त्रस्वाध्याय तो उनकी खुराक बन जाती है। इस अल्पस्थिति वाले बहुमूल्य मानव जीवन में अपना हित कर लेना ही परम कर्तव्य है। यही रोम-रोम में भावना उठती है। मुझे भव का अन्त करना है, यही उनके जीवन का ध्येय है। भव के अभाव की बात पढ़त या सुनते हुए वे आनन्दित हो जाते हैं।

दीक्षा लेने के बाद उसी माह वे जेतपुर जाते हैं। वहाँ हलवाई का एक लड़का है। उनका नाम है भगवान। लेकिन वह बहुत भोला-भाला होने से लोग उसे 'भगु' कहते हैं और जब जब उसकी बात चले तभी सब कहे 'भगु पशु' है। इसलिये वह लड़का भी जब कानजीस्वामी के पास आता है तब कहता है: 'महाराज! भगु पशु है।' अरे! इसी प्रकार ही अज्ञानी जीव भी शक्ति अपेक्षा स्वयं भगवान होते हुए भी अपने को पशु के समान पामर मानते हैं न!

गुरु हीराचन्दजी महाराज बहुत सरल परिणामी और भद्रपुरुष हैं। कभी भी ऊँची आवाज में नहीं बोलते। एक बार थकान के कारण कानजीस्वामी लेटे-लेटे स्वाध्याय कर रहे

हैं। तब वे बहुत प्रेम से कहते हैं: 'कानजी! यह अपने को शोभा नहीं देता। यदि थकान लगी हो तो शास्त्र बन्द करके लेट जाओ, परन्तु इस प्रकार लेटकर शास्त्र पढ़ना नहीं चाहिये। इससे अविनय होती है।'

कानजीस्वामी प्रारम्भ से ही ब्रह्मचर्य के अगाध प्रेमी। उनका जीवन ब्रह्मचर्य-शील के अतिशय तेज से सुशोभित है। दीक्षित होने के बाद निरन्तर शास्त्र स्वाध्याय करते हैं और तत्त्वचिन्तन की धुन में मग्न रहते हैं। साथ-साथ वे चारित्र्य का पालन भी बहुत कठोरता से करते हैं। महिलाओं की ओर कभी भी देखते नहीं, उन्हें सम्बोधित करते नहीं। उनसे शंका-समाधान या बातचीत भी करत नहीं। उनके प्रति सदा अत्यन्त उपेक्षावृत्ति रहती है। एकबार गुरु कहते हैं: 'कानजी! इस बहन को शास्त्र की यह गाथा समझा दो।' तुरन्त ही उस बात का विनयपूर्वक निषेध करते हुए बोल उठते हैं: 'महाराज! इस प्रकार जिसमें स्त्रियों के साथ सम्पर्क हो ऐसा कुछ भी कार्य मुझे कभी भी नहीं कहना।' अहो। यौवन में भी कितना प्रचुर वैराग्य! ब्रह्मचर्य का कैसा अद्भुत रंग!! उनके दर्शन के लिए अकेली महिला का आना तो बहुत दूर, एक से अधिक महिलायें भी पुरुष की उपस्थिति के बिना नहीं आ सकतीं। ऐसा उनके उग्रशील का प्रगाढ़ रंग है।

एक दिन पूर्वभव में सिंचित अन्तरङ्ग के संस्कार जागृत होकर बाहर आते हैं। बात है वि.सं. 1971 की (सन् 1915 की) लाठी गाँव की। यहाँ वे विशेष शास्त्राभ्यास के लिए एक दिन उपवास और दूसरे दिन आहार- इस प्रकार एकान्तरा उपवास का उपधान करत हैं एवं यहाँ से ही वे प्रथम वार जाहिर में प्रवचन करना प्रारम्भ करते हैं। अष्टमी और पूनम/अमावस को जब लोग प्रोषधोपवास करके उपाश्रय में बैठे हों, तब वे लोगों के आग्रह से प्रवचन करते हैं। एक बार वे सिंह-गर्जना करते हैं- 'जीव स्वयं अपनी योग्यता से स्वतन्त्रपने विकार करत है, कर्म या परपदार्थों के कारण विकार बिलकुल नहीं होता। जीव स्वयं अपने विपरीत पुरुषार्थ से विकार करता है और स्वयं के सही पुरुषार्थ से विकार का अभाव करता है।' अहो! कभी दीक्षा लिये मात्र डेढ़ वर्ष हुए हैं और दिगम्बर धर्म के कोई भी शास्त्र हाथ में आये भी नहीं है। फिर भी वे ऐसी बात करते हैं। 'भगवतीसूत्र' में ऐसा आता है कि संशय स्वयं से होता है- इस कथन से वे ऐसा अर्थ निकालते हैं। ऐसा अर्थ सुनते ही कायरों का हृदय काँप उठता है, परन्तु उनके प्रभाव और तर्कों के सामने कोई कुछ बोल नहीं सकता। गुरु, गुरुभाई या श्रोताओं में से कोई विरोध नहीं करते। मात्र एक सेठ विरोध करते हैं। फिर भी वह सेठ उनके सामने कुछ बोल नहीं सकते। इसलिए अकेले में किसी व्यक्ति से कहते हैं:

‘कानजी महाराज ने यह नया अर्थ कहाँ से निकाला ? अपने हीराचन्द गुरुजी ने तो ऐसा कभी नहीं कहा और अपना ऐसा मानते भी नहीं हैं। अपन तो कर्म से विकार की उत्पत्ति मानते हैं, तो फिर महाराज ने यह नयी बात कहाँ से निकाली ? यह तो बिना डोरी की पतङ्ग उड़ रही है, न जाने कहाँ गिरेगी ?’ अहा ! देखो तो ! वह दिगम्बर धर्म में आयी न ! जो सत्य की प्राप्ति हेतु निकले हैं, उनके अन्तर में से ही सत्य के संस्कार अंकुरित होने लगे हैं न।

इसी वर्ष की बात है। स्वयं ‘आचारांग’ के प्रथम भाग का पठन करते हैं। तब उसके अर्थ ऐसे विशिष्टरूप से करते हैं कि उनके गुरु और गुरुभाई भी सुनने बैठते हैं। गुरुभाई मूलचन्दजी को आश्चर्य होता है और कहते हैं— ‘मुझे यह भाग समझ में नहीं आता और तुम्हें आता है ?’

इसी वर्ष वेजलका गाँव में रात्रि में स्वप्न देखते हैं। उसमें ऐसा दिखाई देता है कि सारा आकाश शास्त्रों से उत्कीर्ण पाटियों से भरा हुआ है। मानो परमागम मनिदर का संकेत ! अहो ! जिनकी निर्मल श्रुतज्ञानधारा द्वारा सम्यक् मोक्षमार्ग का रहस्योद्घाटन होनेवाला है, जिनके द्वारा भरतक्षेत्र में परमागमो की प्रभावना होनेवाली है उनको मानो सहज ही संकेत आने लगे हैं।

‘भगवतीसूत्र’ में ऐसी बात आती है कि साधु अपनी शक्ति द्वारा एक मनुष्य और एक घोड़े को जला देते हैं। इस संबंध में आनन्दपुर गाँव में अपने गुरुभाई मूलचन्दजी से चर्चा हाती है। बोलते हैं: ‘वह व्यक्ति जैनशासन का बैरी था, इसलिए उसे जलाया है। अतः प्रायश्चित लेने की जरूरत नहीं है।’ तब कानजीस्वामी बोल उठत हैं: ‘भले वह जैनशासन का बैरी हो, परन्तु जो उसे जलाये या जलाने का भाव करे, वह साधु ही नहीं हो सकता। ऐसी विपरीत बात हमें मान्य नहीं है।’ आखिरा कषाय तो कषाय ही है न ! दोष ही है न ! इसलिए उसका प्रायश्चित भी होना चाहिए न।

सम्बत 1972 अर्थात् सन् 1916 फाल्गुन शुक्ला तेरस/चौदस की रात्रि में पालियाद के पास सरवा गाँव में एक महत्व की घटना घटती है। उसी रात्रि में गुरुभाई मूलचन्दजी से चर्चा होती है। गुरुभाई कहते हैं: केवली ने जैसा देखा होगा, वैसा होगा। हम क्या कर सकते हैं ? केवली ने देखा होगा तो पुरुषार्थ होगा और मोक्ष होगा। यदि उन्होंने हमारे अनन्त भव देखे होंगे तो उनमें से एक भी भव घटनेवाला नहीं है। ऐसी पुरुषार्थहीन बात इससे पहले भी वे बारम्बार कर चुके थे, जो पुरुषार्थ के स्वामी कानजीस्वामी को अच्छी नहीं लगती थी।

क्योंकि कानजीस्वामी शुरू से ही तीव्र पुरुषार्थी हैं। फिर भी थोड़े समय तो वे स्वयं नवदीक्षित हैं, इसलिए चुपचाप सुन लेते हैं। लेकिन आज उन्हें यह बात सहन नहीं हुई। अतः उन्होंने दृढ़तापूर्वक गुरुभाई से कहा: 'केवली ने जैसा देखा है, वैसा ही होगा—यह बात तो सत्य है, परन्तु केवलज्ञान इस जगत में है, उसकी प्रतीति किसे होती है? जिसे ज्ञानस्वभावी आत्मा की दृष्टि होती है, उसे ही ऐसी प्रतीति होती है और केवली ने उसके भव देखे ही नहीं हैं। जिसके अन्तर में त्रिकाल और त्रिलोक को जाने ऐसा केवलज्ञान बैठ गया उसके भव भगवान ने देखे ही नहीं हैं। आत्मा के एक ज्ञानगुण की एक समय की परिपूर्ण पर्याय यह केवलज्ञान है अर्थात् आत्मा के एक गुण की पर्याय एक समय में तीन काल, तीन लोक को जान सके ऐसी सामर्थ्यवाली है। जिसे ऐसी सामर्थ्य की श्रद्धा हुई, उसे भव होते ही नहीं अर्थात् भगवान ने जैसा देखा है, वैसा ही होगा—यह बात जिसकी दृष्टि में बैठ गयी, उसके भव होते ही नहीं।'।

यही भाव प्रवचनसार की 80वीं गाथा में भी है न! कि

जो जानता अरहन्त को गुण, द्रव्य अरु पर्याय से।

वह जीव जाने आत्म को, अरु मोह क्षय निश्चित करे ॥

अभी उन्होंने यह शास्त्र देखा भी नहीं है। फिर भी अन्तरङ्ग में पूर्व के संस्कार हैं इसलिए यह गाथा के भाव शास्त्र पढ़े बिना ही अन्तर से आते हैं। अहा! दीक्षा लेने के मात्र दो वर्ष ही हुए हैं। तो भी अन्तरङ्ग में से कैसे पुरुषार्थप्रेरक बातें आती हैं।

जो स्वयं प्रचण्ड पुरुषार्थ करके भविष्य में मोक्षपन्थ पर गमन करनेवाले हैं और पूर्णता को प्राप्त करने वाले हैं उन्हें पुरुषार्थहीनता की बातें कैसे करे? कानजीस्वामी पुरुषार्थहीनता पोषक मिथ्यावचन कभी सहन नहीं करते। वे कहते हैं: 'जो पुरुषार्थी है, उसके अनन्त भव नहीं होते और केवली ने भी उसके अनन्त भव नहीं देखे। पुरुषार्थी को भवस्थिति आदि कुछ बाधक नहीं होते। उसे पाँचों समवाय आकर मिलते हैं।' पुरुषार्थ...पुरुषार्थ...पुरुषार्थ— यही उनका जीवन मन्त्र है। अहो! धन्य है उनके जीवनमन्त्र को! पुरुषार्थ को! शूरवीरता को!

वे अपनी बात दृष्टान्त देकर सिद्ध करते हैं... 'गजसुकुमार का ही दृष्टान्त देखो न! गजसुकुमार श्रीकृष्ण के साथ नेमिनाथ भगवान के समवसरण में दिव्यध्वनि सुनने जाते हैं।' भगवान की वाणी सुनते ही अन्तर से उसका पुरुषार्थ जाग उठता है और वे भगवान से कहते हैं: 'प्रभु! मुझे भगवती दीक्षा दीजिए। मैं आज ही मुनिपना ग्रहण करना चाहता हूँ और



द्वारिका के स्मशान में ध्यान करने की मेरी भावना है।' ता भगवान की वाणी कैसी होगी ? क्या यह वाणी ऐसी होगी कि हमने जैसा देखा है, वैसा ही होगा; तुम पुरुषार्थ नहीं कर सकते। क्या ऐसी पुरुषार्थहीन वाणी भगवान की होगी ? भगवान राग और अज्ञान का नाश करके वीतरागी और सर्वज्ञ हुए हैं। इसलिए उनकी वाणी में भी पूर्ण होने की ही बात आती है। अतः जिसके ज्ञान में सर्वज्ञ भगवान बैठे हैं, उसका पुरुषार्थ जाग उठता ही है और उसके भव भगवान ने देखे ही नहीं हैं। भगवान ने तुम्हारे भव देखे होंगे, हमारे नहीं।'

अन्तर में जिनका वीर्य उछल रहा है ऐसे कानजीस्वामी आगे कहते हैं; भगवान ने जब देखा होगा, तभी पुरुषार्थ होगा, हम क्या कर सकते हैं ? ऐसी श्रद्धा हमें स्वीकार्य नहीं और हमें ऐसी श्रद्धावाला सम्प्रदाय और गुरु भी नहीं चाहिए। ऐसा कहकर वे सम्प्रदाय और गुरु-सब को छोड़कर उपाश्रय से बाहर जाने के लिए निकलते हैं। तब उनके गुरु हीराचन्द जी महाराज कहते हैं: 'कानजी! यदि किसी को ऐसी श्रद्धा हो तो वह बाधक नहीं है।' (अर्थात् यदि कोई मूर्ति को माने तो वह श्रद्धा तो बाधक है, परन्तु ऐसी श्रद्धा बाधक नहीं है।) तुरन्त कानजीस्वामी कहते हैं: 'नहीं, ऐसी श्रद्धा ही बाधक है।' इस प्रकार स्पष्ट कहकर वे सबको छोड़कर समीप में स्थित दूसरे गाँव में अकेले चले जाते हैं। फिर दूसरे दिन बड़े-बड़े सेठ उन्हें मनाने आते हैं और समझाकर वापस उपाश्रय में लाते हैं। वे वापस तो आ जाते हैं, परन्तु उस दिन से उनकी श्रद्धा सम्प्रदाय और गुरु आदि से उठ जाती है तथा अन्तर में से आवाज आती है कि अब सत्य तो मुझे स्वयं खोजना है। खोजना शेष रहा है।

वि.सं. 1973 का (सन् 1917 का) चातुर्मास दामनगर में करते हैं। एक बार शास्त्र स्वाध्याय करते समय ऐसा आता है कि यक्ष की मूर्ति की ऊँचाई तीर्थकर की ऊँचाई जितनी है। इस विषय में शंका होती है कि क्या यक्ष की मूर्ति की तुलना तीर्थकर के साथ हो सकती है ? इसलिए गुरुभाई को अकेले में इस विषय के बारे में पूछने पर जानने में आता है कि यह है तो जिन अर्थात् तीर्थकर की प्रतिमा, यह कोई यक्ष की नहीं है। परन्तु हम जिन प्रतिमा को नहीं मानते, इसलिए तीर्थकर की प्रतिमा की जगह वह यक्ष की प्रतिमा है-ऐसा लिखा है। ऐसा सुनकर कानजीस्वामी व्याकुल होते हैं : यह क्या ? अन्दर में कुछ मानना और बाहर में कुछ कहना ? नहीं...नहीं....नहीं... यह पन्थ सचचा नहीं है। यह मार्ग झूठा और श्रद्धा भी झूठी है। शास्त्र में जिन प्रतिमा सम्बन्धी ऐसा विरुद्ध निरूपण पढ़ने पर तथा सिद्धान्त की विपरीतता देखकर उन पर से उनका विश्वास उठ जाता है।

यहाँ एक और प्रसंग बनता है। सम्प्रदाय की परम्परा के अनुसार पात्र रंगने में तथा उसे

सुखाने में बहुत समय बर्बाद होता है, जो उन्हें सहन नहीं होता, अच्छा नहीं लगता। जो काम करने का मन न हो, वह क्यों करना? कैसे किया जाये? एकबार तो गुरु के सामने बोल उठते हैं- 'यह क्या? स्वाध्याय छोड़कर पात्र रँगना?' गुरु को उनसे अगाध प्रेम। अतः अत्यन्त मिठास से बोलते हैं: 'तो फिर पात्ररहित साधु ढूँढ़ लेना।' गुरु के मन में तो यही था कि क्या पात्ररहित कोई साधु हो सकता है? अहो! कौन जानता है कि विधि का यह क्या संकेत है? इन्हीं कानजी स्वामी ने कुछ समय बाद पात्ररहित कुन्दकुन्दाचार्यदेव को खोज लिया न और उनके मार्ग की भी प्रभावना की न!

वि.सं. 1974 (सन् 1918) में अमरेली में राजकोटवाले प्राण जीवन मास्टर के साथ चर्चा होती है कि आकाश के एक प्रदेश में जीव के कितने प्रदेश रहते हैं? तब कानजीस्वामी उत्तर देते हैं- 'आत्मा कभी संख्यात प्रदेशों में नहीं रहता, वह असंख्यात प्रदेशों में ही रहता है। उसे रहने के लिए असंख्य प्रदेश ही चाहिए। हाँ! आकाश के एक प्रदेश में अनन्त आत्माओं के अनन्त प्रदेश रह सकते हैं, परन्तु पूरा एक आत्मा रह सकता नहीं।' ऐसा जब कहते हैं तब गुरुभाई बोले: 'ऐसा कहाँ से निकाला?' उनसे कहा: 'निकाला क्या? यह तो वस्तु का स्वरूप है और शास्त्र में भी देख लो न। किसी भी सिद्धान्त की गहराई में उतरकर, उसके तल तक पहुँचकर तथा सूक्ष्मता से उसे परखकर ही सभा में कहने की उनकी कला कोई अलौकिक है।'

दीक्षा लेने कुछ समय पश्चात उनकी आत्मार्थीवृत्ति और तर्क से वस्तु को स्वीकारने की कला आदि बहुत से सद्गुण देखकर उनके गुरु हीराचन्दजी महाराज उनको सभा में व्याख्यान करने के लिए बार-बार वात्सल्यभाव से आग्रह करते। परन्तु कानजीस्वामी अत्यन्त नम्रता, परन्तु दृढ़ता से कहते: 'महाराज! मैं व्याख्यान के लिए नहीं; अपितु आत्मकल्याण के लिये आया हूँ और इसलिए मैंने दीक्षा ली है।' गुरु समझाने के लिए कहते: 'तुम सभा में बाँचोगे तो तुम्हें नये-नये तर्क उठेंगे, तुम्हें नया-नया जानने को मिलेगा।' वे धीरे से लेकिन दृढ़तापूर्वक उत्तर देते: 'मुझे व्याख्यान के लिए कहना नहीं। मुझे तो मेरा आत्महित करना है।' इस प्रकार यद्यपि व्याख्यान करने की अनिच्छा होने पर भी जबरदस्ती लोगों के अतिशय प्रेमपूर्वक आग्रह से, कभी-कभी जाहिर व्याख्यान करना पड़ता है।

अब वि.सं. 1974 (सन् 1918) में गुरु हीराचन्दजी महाराज के स्वर्गवास के पश्चात गुरुभाई दीक्षाकाल की अपेक्षा बड़े होने पर भी सकल संघ निवेदन करता है कि साहेब! अब

आप ही व्याख्यान करे! इस प्रकार उन पर व्याख्यान करने का दायित्व आ जाता है और वे प्रतिदिन नियमितरूप से जाहिर व्याख्यान करना प्रारम्भ करते हैं।

वि.सं. 1975 (सन् 1919) में कानजीस्वामी वींछिया में फरमाते हैं: 'अल्पज्ञान अर्थात् कम धारणाज्ञान दोष नहीं है; परन्तु विपरीत श्रद्धा और राग-द्वेष ही दोष है।' दोष क्या है वह ख्याल में आया?

अब वि.सं. 1976 (सन् 1920) के प्रसङ्ग देखते हैं। सम्प्रदाय में उनकी छाप प्रभु समान है। कानजी मुनि कहे तो मानो प्रभु ने कहा, ऐसा स्वीकार किया जाता है। जोबाला गाँव में रोचका वाले ऊजमशीभाई कहते हैं: 'महाराज! आपकी बात इस तरह से आती है, मानो आपके पास कोई देवी न हो!' उत्तर मिलता है- 'भाई! जैसे जम्बूद्वीप के जम्बूवृक्ष में अनाढ्य नाम का देव रहता है, वैसे बहुश्रुत ज्ञानी के अर्थात् सम्यग्ज्ञानी के ज्ञान में तीर्थकरदेव सर्वज्ञ वास करते हैं।' अहो! कैसी सम्यग्ज्ञानी की दशा!

दीक्षा के इन वर्षों में श्वेताम्बर शास्त्रों का मननपूर्वक अभ्यास करते हैं। 'भगवतीसूत्र' का अध्ययन 17 बार करते हैं। यब सब अध्ययन करते हुए भी उनका लक्ष्य तो सत्य की खोज ही है। इस वर्ष का चातुर्मास अधिक माह होने से पाँच महीने का है। दामनगर में इन पाँच माह में श्वेताम्बर के 45 आगमों का टीका सहित विचारपूर्वक अध्ययन करते हैं तथा सात से आठ-हजार श्लोक कण्ठस्थ करते हैं। एकबार तो एक दिन में दस हजार श्लोक पढ़ लिया। प्रतिदिन दस-दस घण्टे स्वाध्याय करने पर भी जिस परमार्थ सत्य की खोज में है, वह अभी तक मिलता नहीं।

यहाँ पर दामोदर सेठ कहते हैं 'जब तक जीव मिथ्यादृष्टि है, तब तक ही मूर्ति पूजा होती है। सम्यग्दर्शन होने के बाद मूर्तिपूजा नहीं होती।' स्थानकवासी सम्प्रदाय मूर्ति को नहीं मानता इसलिए वे ऐसा कहते हैं। कानजीस्वामी कहते हैं: 'नहीं; सम्यग्दृष्टि को ही सच्ची मूर्तिपूजा होती है, मिथ्यादृष्टि को नहीं। क्योंकि - (1) मूर्ति, स्थापना है; (2) स्थापना, निक्षेप का भेद है; (3) निक्षेप, नय का विषय है अर्थात् जिसे नय होता है, उसे ही निक्षेप लागू पड़ता है; (4) नय, भावश्रुत ज्ञान का भेद है; और (5) भावश्रुत ज्ञान, सम्यग्दृष्टि को ही होता है, मिथ्यादृष्टि को नहीं; इसलिए सच्ची मूर्तिपूजा सम्यग्दृष्टि को ही होती है।'।

वे सदा तर्क और बुद्धि की कसौटी पर निरन्तर सत्य की परख करते हैं। एकबार दामोदर सेठ सूचन करते हैं: 'आप विकार की उत्पत्ति में जीव के पुरुषार्थ का बहुत आग्रह

रखते हैं तो जीव के पुरुषार्थ का 51 प्रतिशत और कर्म का 49 प्रतिशत रखिये।’ तब वस्तुस्वरूप का अटल नियम समझाते हुए कानजीस्वामी कहते हैं: ‘नहीं, नहीं विकार होने में कर्म का एक प्रतिशत भी योगदान नहीं है, जीव के पुरुषार्थ का ही शत-प्रतिशत है। अपना कार्य करन में शत-प्रतिशत पुरुषार्थ जीव का जीव में है और कर्म का कर्म में है। जीव का एक प्रतिशत भी पुरुषार्थ कर्म में है या कर्म का एक प्रतिशत भी योगदान जीव में है ऐसा बिलकुल ही नहीं है।’ अहो! स्वयं के अन्तर पट में से कैसे अद्भुत सत्य सिद्धान्त स्फुटित होते हैं! इस प्रकार जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, वैसे-वैसे पूर्व भव के संग्रहित संस्कार अनेक प्रकार से बाहर आते हैं और साथ ही अन्तरङ्ग में सत्य की शोध उग्र होती जाती है।

‘कोई जीव साधु को आहार दे तो उसका संसार टले- यह बात ठीक है न!’ ऐसा प्रश्न वि.सं. 1977 (सन् 1929) में गोंडल में उनसे पूछा जाता है। उत्तर देते हुए कहत है: ‘भाई! हम सम्प्रदाय में हैं, इसलिए क्या कहें? नहीं तो तीर्थंकर को रोग होता है, वे दवा लेते हैं और साधु को आहार देने से भव नष्ट होते हैं-आदि ऐसी सभी बातें सत्य नहीं हैं।’

इसी वर्ष बोटोद में पोरबन्दर के एक भाई कहते हैं: ‘तेथी देह एक ज धारी ने जाशु स्वरूप स्वदेश रे....।’ इस पंक्ति में श्रीमद् राजचन्द जी कहते हैं कि मैं एक भव में मोक्ष जानेवाला हूँ तो श्रीमद्जी छद्मस्थ थे और गृहस्थाश्रम में थे फिर भी ऐसी बात करते हैं? क्या पञ्चमकाल का गृहस्थी जीव ऐसा जान सकता है? उसका समाधान करते हुए कहते हैं: ‘अरे! आत्मा नहीं जान सकता- यह प्रश्न ही नहीं है। भगवान आत्मा सब कुछ जान सकता है। मतिज्ञान द्वारा उपयोग लग जाये तो आत्मा इतना सब कुछ जान सकता है कि केवलज्ञान कब होगा। अतः श्रीमद्जी ने जो कहा है, वह सत्य है। भाई! आत्मा के ज्ञान का कितना सामर्थ्य है-यह बात लोगों को मालूम नहीं है।’

इसी साल बाँकानेर में एक अद्भुत प्रसङ्ग बनता है। यहाँ पर सर्वप्रथम बार ॐकारमय दिव्यध्वनि की गूँज सुनाई पड़ती है। यह क्या है? किसकी आवाज सुनाई दे रही है? वह कुछ समझ में आता नहीं है। तदुपरान्त दीक्षा लेने के बाद स्वप्न में अलौकिक दृश्य दिखाई देता थाँ उसमें एक पतला सा ऊँचा देहवाला और झरी वस्त्रधारी राजकुमार बारम्बार दिखाई पड़ता था। पर वह कौन है? यह समझ में नहीं आता और कभी-कभी तो ‘मैं तीर्थंकर हूँ’ ऐसा भी अन्दर से आता थाँ सो स्वयं आश्चर्यचकित हो जाते और गहरे विचार में उतर जाते कि मैं तो मनुष्य हूँ, फिर भी यह क्या हो रहा है? इन सब बातों का कुछ भी मिलान होता

नहीं है, उत्तर मिलता नहीं है और समझ आती नहीं है। फिर सन् 1937 अर्थात् संवत् 1993 में वैशाख कृष्णा अष्टमी के दिन पूज्य बहनश्री को सोनगढ़ में जातिस्मरण ज्ञान होते ही सब बातों का मिलान हो जाता है कि श्री कानजीस्वामी पूर्व जन्म में महाविदेहक्षेत्र में राजकुमार थे और भविष्य में धातकीखण्ड में तीर्थकर होने वाले हैं।

इस प्रकार दीक्षा लिये हुए सात वर्ष बीतते हैं। इन सात वर्षों में श्वेताम्बर ग्रन्थों का बहुत (अति) अभ्यास होता है। जैसे-जैसे अध्ययन होता है, जैसे-जैसे अंतरङ्ग में अनेकानेक शंकाएँ उत्पन्न होने लगती हैं। परन्तु उत्तर मिलता नहीं, समाधान होता नहीं। स्वयं का स्वभाव भी ऐसा कि तर्क की कसौटी पर खरा उतरे बिना कोई बात मानना नहीं। पहले तर्क और बुद्धि की कसौटी पर तथ्यों को कसते, फिर मानते। न्याय-विवेक बना मात्र अन्ध श्रद्धा से कोई बात नहीं। अतः मन में उठने वाले प्रश्न अनुत्तर ही रहते हैं और इसीलिए ही सत्य की प्राप्ति की जिज्ञासा उग्र से उग्रतर होती जाती है।

ज्ञान पिपासा के साथ-साथ वे सम्प्रदाय का परम्परागत चरित्र पूरी कठोरता से पालते हैं। उनके लिये बनाये गये भोजन का एक दाना तथा पानी की एक बूँद भी नहीं लेते हैं। शास्त्रीय नियमों के अनुसार निर्दोष आहार-पानी न मिले तो वे उपवास कर लेते हैं। सभी को उन्हें आहार देने की प्रबल भावना रहती है, परन्तु आहार के समय जरा-सी भी भूल हो जाये तो वे आहार नहीं लेते हैं। सम्प्रदाय के साधु जीवन में उन्हें मात्र शास्त्राभ्यास और तत्व विचार की ही लगन है। इससे उनकी दशा बाह्य प्रसङ्गों से इतनी उदासीन रहती है कि सरस-नीरस आहार के प्रति भी लक्ष्य नहीं रहता। जैसे तो वे सामान्यतः सादा और निर्दोष आहार ही लेते हैं। उनका जीवन आत्माभिमुख और जगत से अत्यन्त उदास है। उनकी इस ज्ञान-वैराग्यमयदशा से प्रभावित हुए भक्तों को इतना भक्तिभाव उछलता है कि आहार के समय घर-घर पर भक्तों की टोलियाँ उमड़ पड़ती हैं और आतुरता से उनके पधारने की प्रतीक्षा करती हैं। जब वे आहार लेने के लिए पधारते, तब 'पधारो! पधारो!' ऐसा कहकर भक्तों आहारदान का लाभ देने के लिए प्रार्थना करते हैं। जिसके यहाँ वे आहार लेते हैं, उसे ऐसा आनन्द होता है, मानो आज आँगन में कल्पवृक्ष आया हो। वे भक्तों के हृदय सिंहासन पर विराजमान रहते हैं। भक्तों को उनके प्रति अत्यन्त भावभीना बहुमान है। फिर भी वे उससे भी बिलकुल निस्पृह और उपेक्षा वृत्तिवाले हैं।

एक के बाद एक इस प्रकार अनेक गाँव में विहार यात्रा रकत हैं। विहार करते करते भी सम्प्रदाय की रीत अनुसार प्रत्येक क्रिया का पालन चुस्ती से करते हैं। इससे ही उनकी



ख्याति की सुगन्ध दिनों दिन चारों तरफ फैलने लगती हैं। उनकी प्रखर आत्मार्थीवृत्ति, तीव्र ज्ञान-पिपासा और उग्र आचरण की ख्याति-प्रसिद्धि सम्पूर्ण सौराष्ट्र में इतनी फैल जाती है कि लोग आदर से 'काठियावाड़ का कोहिनूर' के रूप में प्रशंसा करते हैं। वे जहाँ भी जाते हैं, वहाँ लोगों की टोलियाँ उनके दर्शन करने और उनका प्रवचन सुनने के लिए उमड़ पड़ती है। भक्त लोग उन्हें प्रभु तुल्य मानते हैं और पूजते हैं।

इतनी प्रचुर प्रसिद्धि और प्रभाव के बीच भी उन्हें जिस सनातन सत्य की खोज है, वह अब तक प्राप्त नहीं होने से अविरत उल्लसित वीर्य से उसकी खोज करते ही रहते हैं। सत्यप्राप्ति के लिए विचार-मन्थन निरन्तर चलता रहता है। सम्प्रदाय के शास्त्रों में आने वाली विपरीत बातों से मेल बैठता नहीं है और अनेक सैद्धान्तिक प्रश्न उठते हैं, उनका उत्तर मिलता नहीं है। इसलिए उन्हें अंतरङ्ग में खटक रहा करती है कि मुझे जो चाहिए जो प्राप्त करना है, वह यह नहीं है।

कोई भी कार्य करत समय उनका झुकाव सत्य की शोध के प्रति ही रहता है। फिर भी वे जिस सत्य को खोज रहे हैं, वह मिला नहीं है और जो उन्हें मिला है, उसमें सत्य भासित होता नहीं है। उनसे प्रश्न-शंकाओं का समाधान होता नहीं है। अतः खूब चिन्तन-मनन चलता है। कहीं चैन नहीं पड़ती। तो भी थके-हारे बिना और निराश हुए बिना, उत्साहपूर्वक सत्य की शोध चालू ही रखते हैं। परन्तु यह भी सही है न! कि जहाँ सत्य की सच्ची शोध है, वहाँ उसकी प्राप्ति भी है। यदि सच्ची भावना हो तो फले बिना रहती ही नहीं। प्रकृति भावना के साथ बँधी है। यदि सच्ची भावना हो तो फले बिना रहती ही नहीं। प्रकृति भावना के साथ बँधी है। यदि तीव्र जिज्ञासा जाग्रत हो अर्थात् सच्ची लगन हो तो वस्तु प्राप्त होती ही है। तो फिर सत्य को पाने की सच्ची लगन लगी हो और वह प्राप्त न हो-ऐसा कैसे बने? भारत के अनेक भव्यजीवों के महापुण्योदय का सूचक और वीर शासन के उद्धार का एक पवित्र प्रसङ्ग कानजीस्वामी के जीवन में बनता है जो उनकी जीवनदिशा और समग्र जीवन ही बदल देता है।

उनके जीवन के 32वें वर्ष में अर्थात् सन् 1922 सम्वत् 1978 के फाल्गुन माह में प्रकृति की कोई धन्य घड़ी में दामनगर में दामोदर सेठ ने पूर्वभव के प्रबल संस्कारी कानजीस्वामी के करकमलों में समयसार नामक महान शास्त्र भेंट किया। जिनका मार्ग भरतक्षेत्र में प्रवर्तन करने का सौभाग्य कानजीस्वामी के भाल पर लिखा हुआ है, ऐसे भरतक्षेत्र में प्रवर्तन करने का सौभाग्य कानजीस्वामी के भाल पर लिखा हुआ है, ऐसे भरतक्षेत्र के

समर्थ आचार्य कलिकाल सर्वज्ञ श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव विरजित ग्रन्थाधिराज श्रीसमयसार महाभाग्य से प्राप्त होने पर तथा पढ़ते ही उनका आत्मा अन्तर से पुकार उठता है और सहज ही हृदयोद्गार निकल पड़ते हैं: 'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।' अहो! पूर्णता की कैसी ध्वनि गूँजती है! अहा! जो चाहिए था, जिसे पाने की अन्तर में गहरी तड़प रहती थी, दुःखों से मुक्ति के जिस यथार्थमार्ग की खोज दिन-रात चलती थी, वह प्राप्त होने पर अन्तर में अपूर्व आनन्द होता है। क्यों न हो? क्या प्यासे को अमृतपान करने पर और भूखे को भोजन मिलने पर तृप्ति नहीं होती?

भव का अन्त करना है, ऐसा ध्येय बनाकर निर्दोष, पराक्रमी दीक्षा जीवन बिताने वाले कानजीस्वामी अब किसकी राह देखेंगे? सुबह एकबार व्याख्यान करके और आहार लेकर वे समयसारजी के हर एक वाक्य में और पंक्ति में भरे हुए अमृत का पान करने के लिए प्रतिदिन गाँव से बाहर चले जाते हैं। वहाँ एक गहरे गड्ढे में बैठकर एकान्त में स्वाध्याय करते हैं और फिर शाम को वापिस आते हैं। समयसार का यह अध्ययन एक अलौकिक अनुभव है। उनके अन्तर्चक्षु समयसार में लबालब भरे हुए अमृत के सरोवर को ढूँढ़ लेते हैं। एक के बाद एक गाथा का गहन अभ्यास करते जाते हैं और घूँट भर-भरकर भवभ्रमण नाशक अमृत पीते जाते हैं। अध्यात्म के गूढ रहस्यों से भरपूर इस परमागम के एक-एक वाक्य में भरे हुए अपूर्व और अलौकिक चैतन्यभाव को वे अपने ज्ञानबल से बाहर निकालते हैं और अन्तर आत्मा में उतारते हैं। उनका आत्मा आनन्द से उल्लसित होता है, नाच उठता है, उनके हर्ष का पार नहीं रहता। जैसे जौहरी की नजर हीरे की चमक को परख लेती है, वैसे ही वे समयसार में गूँथे गये मोक्षमार्ग-स्वानुभूति के गहरे और गम्भीर भावों को पहचान लेते हैं और उनमें कहे गये भावों का गहन मन्थन करते हैं। समयसार पढ़ते समय ही अन्दर से भासित होता है कि पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं। समयसार के उपोद्घात के तीसरे-चौथे पृष्ठ पर ऐसा पढ़ने में आता है कि यह शास्त्र प्रमाणित है क्योंकि श्रीकुन्दकुन्दाचार्य महाविदेह क्षेत्र में गये थे और वहाँ से यह बात लाये हैं। श्रीकुन्दकुन्दाचार्य के विदेहगमन सम्बन्धी यह उल्लेख पढ़ते ही उनके आत्मा में पड़े हुए भूतकाल के संस्कार झनझना उठते हैं और इस तथ्य की सहर्ष स्वीकृति अन्तर की गहराई से हो जाती है। तुरन्त ही उस वाक्य को रेखांकित करते हैं। यद्यपि उस समय विशेष कुछ ख्याल में आता नहीं है फिर भी पूर्व के संस्कार हैं न! इसलिए सहज ही ऐसा होता है।

अब अभी तक अनुत्तरित प्रश्नों का उत्तर धीरे-धीरे मिलने लगता है। शंकाओं का

समाधान होने लगता है और प्रतीति होती है कि सत्य इस में ही है। समयसार की तर्कबद्ध और स्वानुभवपूर्वक बातें सत्य की कसौटी पर खरी उतरती हैं। समयसार के गहन अध्ययन से उनके अन्तर जीवन में पूर्ण बदलाव होने लगता है। परम पवित्र परिवर्तन होता है। भूली और भटकी हुई परिणति निजघर देखती है। ज्ञान का प्रवाह ज्ञानसमुद्र ज्ञायक की ओर बहता है। उनकी ज्ञानकला अब अपूर्व रीति से खिलती है, देदीप्यमान होती है। इस प्रकार भरतक्षेत्र का केवलज्ञानरूपी सूर्य समयसार उन पर अद्भुत, अपूर्व, अलौकिक, अनुपम और अनिन्त्य उपकार करता है। इस शताब्दी में भारतभर में समयसार की महिमा गूँजती है— यह वास्तव में कानजीस्वामी का ही असाधारण प्रताप है।

इसके बाद तो एक के बाद एक दिगम्बर शास्त्र मिलने लगते हैं। इसी वर्ष प्रवचनसार ग्रन्थ मिलता है कि जिसकी 80वीं गाथा का भाव बिना पढ़े वि.सं. 1972 में ख्याल में आया था। फिर अष्टपाहुड़ मिलता है और बोटाद में सम्यग्ज्ञानदीपिका मिलती है। वे प्रत्येक ग्रन्थ का गहन अभ्यास करते हैं, जिसके फलस्वरूप प्रवचनों में अनेक सैद्धान्तिक रहस्यों का उद्घाटन होने लगता है और उनकी ख्याति दिन दूनी रात चौगनी बढ़ने लगती है।

इसी वर्ष अर्थात् वि.सं. 1978 में जन्मधाम उमराला में कानजीस्वामी को फिर से दूसरी बार उँकार को नहीं मानता, अतः उन्हें आश्चर्य होता है कि यह क्या है? वे नारायणभाई से पूछते हैं : 'यह क्या सुनाई दिया?' नारायणभाई तर्कवाले होने से तुरन्त कहते हैं: 'ऐसा लगता है कि तुम भगवान के पास से वाणी सुनकर आये हो!' पूर्वभव में साक्षात् दिव्यध्वनि सुनी थी, उसकी ही गूँज सुनायी पड़ी न!

इसी वर्ष की बात है। चूड़ा में प्रवचनोपरान्त एक सिपाही पूछता है: 'जैसा आप कहते हो, वैसा यदि सभी करने लगे तो फिर यह संसार के काम कौन करेगा?' समाधानकारी उत्तर मिलता है: 'जिसे करोड़पति बनना हो, वह ऐसा नहीं सोचता कि मेरे जैसे सभी करोड़पति हो जायेंगे तो बर्तन साफ करनेवाला कौन रहेगा?' कितना न्यायपूर्ण उत्तर!

वि.सं. 1979 (सन् 1923) में राणपुर में गुरुभाई मूलचन्दजी कहते हैं: 'जीव मोहकर्म के क्षयोपशम से स्वर्ग में जाता है।' तब वे कहते हैं: 'नहीं, मोहकर्म के क्षमोपशम से तो सम्यग्दर्शन हाता है, जीव स्वर्ग में तो मोहकर्म के उदय से जाता है।' साधु होने पर भी गुरुभाई को इन बातों की खबर नहीं थी। तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियाँ कैसी होंगी इसका अनुमान होता है न!

इसी वर्ष अमरेली में हंसराजभाई कामाणी कहत हैं: 'शास्त्र में आत्मा के असंख्य प्रदेश कहे हैं, वह कल्पना है।' उन्हें उत्तर मिलता है: 'नहीं, यह कल्पना नहीं है, यथार्थ है। आत्मा के प्रदेश असंख्य ही हैं और इसी प्रकार आकाश के प्रदेश अनन्त ही हैं। परन्तु एकपने (अखण्डता) की अपेक्षा अनेकपना अर्थात् प्रदेश भेद को व्यवहार कहत हैं। इसलिये वह कल्पना नहीं है।'

उस समय लोगों की ऐसी मान्यता थी कि हम जैनकुल में जन्मे हैं, इसलिये हमें सम्यग्दर्शन तो है ही। अब चारित्र लेना बाकी है। इस मान्यता का खण्डन करते हुए वे वि.सं. 1980 (सन् 1924) में बोटद में कार्तिक सुदी तेरस के प्रवचन में कहत हैं: 'कदाचित अधिक ज्ञान न हो, परन्तु आत्मा की सच्ची श्रद्धा हो तो वह संक्षेप रुचि है। परन्तु सम्प्रदाय में जन्म हैं, इसलिए हमें सच्ची श्रद्धा और संक्षेप रुचि है-ऐसा नहीं है।' ऐसी न्यायपूर्ण सुन्दर बात भी उनके गुरुभाई को पसन्द आती नहीं है!!

तदुपरान्त प्रवचन में ऐसा भी कहते हैं: 'आत्मा का अनुभव करना ही एकमात्र कर्तव्य है और राग आत्मा का विभाव है।' यह बात सुनकर एक श्रोता कहता है: 'यह बात कहाँ से निकाली? जैनधर्म में अनुभव करने की बात तो होती नहीं न! और यह विभाव क्या होता है?' लो! 'अनुभव और विभाव' जैसे शब्दों की खबर भी सम्प्रदाय के लोगों को नहीं है।

इसी वर्ष एक विद्वान से पूछते हैं: 'संजोगी केवली का क्या अर्थ है?' उत्तर मिलता है: 'सम जोगी केवली।' ब कानजीस्वामी कहते हैं: 'भाई! यह संजोगी शब्द ही गलत है। संजोगी केवली कहा नहीं जाता, सजोगी केवली कहा जाता है।' इस प्रसङ्ग से मन में निर्णय होता है कि यह तत्त्वज्ञान काई पण्डिताई या भाषा ज्ञान का विषय नहीं है। यह तो गुरुसंग से जानकर, समझकर, अनुभव करने योग्य है। मात्र अनुभव का विषय है।

वि.सं. 1981 (सन् 1925) का चातुर्मास गढ्ढा गाँव में करते हैं। यहाँ काशी में पढ़े हुए हंसराजभाई कामाणी कहते हैं: 'ज्ञानीवरणीय कर्म के क्षमोपशम से आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है।' तुरन्त ही प्रबल पुरुषार्थ के प्रेरक कानजीस्वामी कहते हैं: 'नहीं, नहीं! लाख बात की बात कर्म से ज्ञान का क्षयोपशम नहीं होता। जितना पुरुषार्थ करे उतना ही ज्ञान प्रगट होता है।'

इसी वर्ष एक भाई पूछते हैं: 'महाराज! धर्म में पैसे वाले का कोई अधिकार या स्थान है या नहीं? उनका धर्म में कोई अधिकार है या नहीं?' उत्तर : 'नहीं, उनका स्थान या

अधिकार बिलकुल नहीं है।' संयोग की ममतावालों का स्थान स्वभावमय धर्म में कैसे हो सकता है ?

कानजीस्वामी की जीवनगाथा में अब वि.सं. 1982 अर्थात् सन् 1926 का वर्ष देखते हैं। जीवन में पहली बार जामनगर आना होता है। यहाँ ताराचन्दभाई वारिया से चर्चा होने पर उन्होंने कहा: 'मन, वचन और काया की सरलता धर्म है।' वस्तुस्वरूप के सिद्धान्त के मर्मज्ञ कानजीस्वामी ने कहा: 'नहीं! यह तो धर्म है ही नहीं; परन्तु दया, दान, व्रतादि भी धर्म नहीं है तथा सामायिक आदि की बाह्य क्रिया से भी धर्म नहीं होता। इनसे उसमें लिखा है कि मन-वचन और काया की सरलता से शुभ नामकर्म बँधता है। इसलिए मन-वचन-काया की सरलता धर्म नहीं है।'

एकबार मगनभाई दफ्तरी कहते हैं: 'मतिज्ञान तो परोक्ष है न?' उसका उत्तर देते हुए कहते हैं: 'भाई! आत्मा को जानने में मतिज्ञान प्रत्यक्ष है। स्वसंवेदन में वह प्रत्यक्ष हो जाता है, भले पर को जानने में परोक्ष हो।'

इसी वर्ष वढवाण में स्वात्मानुभव मनन और राजकोट में पंडितप्रवर टोडरमलजीकृत मोक्षमार्ग प्रकाशक मिलता है और पढ़ते हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक पढ़ते-पढ़ते ऐसी धुन लगती है कि खाना-पीना या ऐसी अन्य कोई प्रवृत्ति बिलकुल सुहाती नहीं है। वे कोई भी शास्त्र साथ में रखते नहीं है और किसी से माँगते भी नहीं है। सहज ही मिले या कोई दे तो पढ़ने के लिये ले लेते हैं।

इस वर्ष का चातुर्मास वढवाण में होता है। यहाँ सुखलालभाई ने कहा: 'जो तरे, वह तारे-ऐसा मत कहो; जो तारे, वह तरे-ऐसा कहो।' तत्वसाधक कानजीस्वामी प्रश्न करते हैं: 'भाई! कितने लोगों को तारे तो तरे? इसलिए जो तारे वह तरे-ऐसा नहीं है, अपितु जो स्वयं तरे, वह दूसरों को तारने में निमित्त होता है।' देखा! उपादान-निमित्त का स्पष्टीकरण।

कोई अन्य भाई कहते हैं: 'पहले थोड़ा कमा ले, फिर धर्म करेंगे।' उससे वे कहते हैं: 'यह क्या कहते हो? पैसे की इतनी ममता!'

वि.सं. 1983 (सन् 1927) में भावनगर में विहार करते हुए सोनगढ़ आना होता है। यहाँ चारित्रविजय नामक साधु से बातचीत होती है। वे कहते हैं: 'जिसे भोगा जाये, उसे पुण्य कहत हैं।' श्री कानजीस्वामी कहते हैं: 'अनुकूल सामग्री मिलना पुण्य का उदय है और उस उदय को भोगने का भाव पाप है।' सामग्री मिलना अलग बात है और उसे भोगने का भाव होना अलग बात है यह भेद ख्यात में आया ?



एक बार प्रश्न पूछने में आता है: 'शास्त्र में उदीरणा की बात आती है न?' क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त के प्रकाशक वे उत्तर देते हैं: 'उदीरणा आदि होते हैं इससे क्या? उदीरणा का अर्थ यह नहीं है कि आगे-पीछे हो।' अनियत जैसा कुछ है नहीं- इस बात की प्रतीति होती है न?

इस साल का अर्थात् वि.सं. 1983 (सन् 1927) का चातुर्मास दामनगर में होता है। यहाँ दामोदर सेठ और वीरजीभाई वारीया के बीच चर्चा होती है। दामोदर सेठ कहते हैं: 'लोकालोक है इसलिए ज्ञान होता है।' जब कि वीरजीभाई कहते हैं: 'ऐसा नहीं है।' इस प्रकार चर्चा होती है। बाद में इस प्रश्न के साथ वे दोनों उनके पास आते हैं। वस्तु स्वातंत्र्य-स्वाधीनता के प्रेमी कानजीस्वामी कहते हैं: 'लोकालोक है इसलिए ज्ञानपर्याय है, ऐसा बिलकुल नहीं है; ज्ञान पर्याय अपने कारण से स्वतन्त्र उत्पन्न होती है।'

इन्हीं दिनों यहाँ दामोदर सेठ के साथ चर्चा होती है। सेठ कहते हैं: 'जब काललब्धि पकेगी, तब मोक्ष होगा; हमें पुरुषार्थ क्यों करना?' पुरुषार्थ ही जिनका जीवनमन्त्र है, ऐसे कानजीस्वामी कहते हैं: 'काललब्धि क्या चीज है? देखो! मोक्षमार्गप्रकाशक में पण्डित टोडरमलजी क्या कहते हैं? वे ऐसा कहते हैं कि जिस समय कार्य होता है, वह काललब्धि है और उस समय जो भाव होता है, वह भवितव्य है; परन्तु ये कोई वस्तु नहीं है।' सेठ दलील करते हैं: 'क्या टोडरमलजी केवली हो गये। क्या उनको केवलज्ञान हुआ था कि जिस वजह से ऐसा कहते हैं?' वे समाधान कराते हैं: 'भाई! वे केवली नहीं थे, उन्हें केवलज्ञान नहीं हुआ था, परन्तु सही बात तो करते हैं न? तो उनकी बात समझो, वाद विवाद मत करो। क्योंकि खोजी जीवे, वादी मरे।' 'सद्गुरु कहे सहज का धन्धा, वाद-विवाद करे सो अन्धा।' यह बात समझ में आती है न?

वि.सं. 1984 (सन् 1928) बगसरा में कल्याणजी भाई मोक्षमार्ग प्रकाशक देते हैं और कहते हैं: 'महाराज! यह शास्त्र साथ में ले जाईये।' वे मना करते हैं। क्योंकि वे अपने साथ शास्त्र रखते नहीं है। परन्तु उसका सातवाँ अधिकार बहुत ही अच्छा लगा था। इसलिए उसे जीवनलालजी से लिखवा लेते हैं।

इसी वर्ष वे फरमाते हैं: 'इस आत्मा का स्वभाव जानना है। इसलिए कोई ऐसा कहे कि मुझे हिंसादि के भाव जानना नहीं है, दुःख देखना नहीं है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि मेरा ज्ञान ढक जाये, ज्ञान का विकास रुक जाये, ज्ञान पर परदा पड़ जाये और ऐसा मानना ही ज्ञान की हिंसा है।'

एकबार अन्दरजी नामक भाई कहते हैं: 'श्रीमद्जी अकेले होने पर भी 'अमारो कोट, अमारी टोपी'-ऐसे क्यों बोलत थे?' समाधान कराते हुए कहते हैं: 'इस प्रकार कहने में ऐसा अभिप्राय है कि अमारो अर्थात् मेरा नहीं ऐसा कोट।' कैसी ज्ञान की विचक्षणता!!

इसी वर्ष दामनगर में द्रव्यसंग्रह नामक शास्त्र पढ़ने में आता है। पश्चात राणपुर में चातुर्मास करते हैं। चातुर्मास दरम्यान चर्चा होती है: 'कालद्रव्य अन्य द्रव्यों के परिणमन में निमित्त है फिर भी हेय है अर्थात् लक्ष्य करने योग्य नहीं है।' दूसरी चर्चा यह होती है: 'प्रत्येक पर्याय अपने स्वकाल में होती है, ऐसी श्रद्धा किसे होती है? जो अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होता है, उसे। ज्ञानस्वभाव के सन्मुख हुए बिना पर्याय अपने स्वकाल में होती है-ऐसा निर्णय हो सकता नहीं।' अहो! तत्वचिन्तक के जीवन में तत्व की चर्चा-वार्ता के अलावा और कार्य क्या हो सकता है?

राणापुर के इस चातुर्मास दरम्यान ऐसा पढ़ने में आता है: 'उत्कृष्ट संवर से तीर्थङ्कर प्रकृति बँधती है और जघन्य संवर से निर्जरा होती है।' सत्य को ही स्वीकारने वाले श्री कानजीस्वामी के मन में प्रश्न उठता है कि क्या उत्कृष्ट भाव से बन्ध होता है और जघन्य भाव से निर्जरा होती है? और यदि ऐसा हो तो निर्जरा की अपेक्षा बन्ध को अच्छा सिद्ध हुआ। पर ऐसा कैसे हो सकता है? एवं क्या संवर से कर्मबन्ध होता है? उनके ये विचार तर्कसंगत हैं न!

यहाँ रघुनाथ खत्री-जो कि वेदान्ती है वह-प्रश्न करते हैं: 'आत्मा पर को जानता है तो पर पदार्थों में प्रवेश किये बिना कैसे जान सकता है?' उनको अद्वैतपना सिद्ध करना है न? इसलिये ऐसा प्रश्न करते हैं। अनेकान्त के रहस्य को समझने वाले कानजीस्वामी उत्तर देते हैं: 'आत्मा अग्नि को जानता है या नहीं?' (हाँ) 'तो वह अग्नि का ज्ञान अग्नि में प्रवेश करके होता है या दूर रहकर?' (अग्नि का ज्ञान उस में प्रवेश किये बिना होता है।) अतः जिस प्रकार अग्नि का ज्ञान उसमें प्रवेश किये बिना दूर रहकर होता है, उसी प्रकार लोकालोक का ज्ञान भी उसमें प्रवेश किये बिना होता है। अन्यथा ज्ञान और लोकालोक ऐकमेक हो जाये।' ज्ञान और ज्ञेय की भिन्नता देखो!!

वीरजीभाई वारिया भी एक प्रश्न करते हैं: 'कर्म के जोर से जीव निगोद में रहा है न?' प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्रता-स्वाधीनता की घोषणा करनेवाले कानजीस्वामी कहत हैं: 'नहीं! जीव अपने कारण से निगोद में रहा है?' उनकी प्रचण्ड प्रभावकवाणी में द्रव्य की पूर्ण

स्वतन्त्रता का ऐसा मधुर स्वर सदा गूँजता ही रहता है। कभी-कभी इसका विरोध भी होता है, फिर भी वे अत्यन्त निर्भीकता और निःशंकतापूर्वक इस प्रतिपादन करते हैं। वे अपनी सिंह-गर्जना जैसी वाणी द्वारा बड़ा सेठ हो या राजा, सभी को निडर होकर सत्य वह देते हैं। वे किसी को खुश करने के लिए कुछ भी नहीं कहते। वे जगत क मान-सम्मान, ख्याति-लाभ-पूजा आदि से बिलकुल निस्पृह उदासीन रहकर केवल आत्मलक्ष्यी जीवन जीते हैं।

अब वि.सं. 1985 (सन् 1929)के प्रसङ्गों का अवलोकन करें। लाठी में आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी विरजित रहस्यपूर्ण चिट्ठी पढ़ने में आती हैं। उसे पढ़ते-पढ़ते इतना रस आता है कि रात्रि में चन्द्रमा की चाँदनी के उजाले में भी पढ़ते हैं।

यहाँ एक साधु गाता है: 'लग रहा है तेरे नयनों में राम रस...' उसी आधार से अध्यात्मरसिक कानजीस्वामी एक पंक्ति रचते हैं: 'लग रहा है अन्तर ज्ञान नेत्र में चैतन्यरस।' तदुपरान्त 'वैष्णवजन तो तेने रे कहिए जे पीरपराई जाने रे...' इस पंक्ति के उपर से आत्मप्रेमी रचते हैं: 'जैनीजन तो तेने रे कहिए, जे आत्मानि सँभाल राखे रे...' अहो! कैसा चैतन्य का रंग!

पोष माह की बोटद की बात है। यहाँ उनके प्रवचन अत्यन्त प्रभावशाली होने से लोग कहते हैं: 'कानजी महाराज के चारों ओर केवलज्ञान चक्कर काटता है।' 'भाई! हमारी चारों ओर केवलज्ञान चक्कर नहीं काटता, परन्तु अब केवलज्ञान प्राप्त करने में कोई देर नहीं है, ऐसा समझना!' इसके अलावा लोग ऐसा भी कहते हैं: 'कानजी अर्थात् कान पकड़वाओ।'।

एक बार सभा में प्रवचन देते समय कानजीस्वामी सिंहनाद करते हैं: 'जिस भाव से तीर्थङ्कर प्रकृति बँधती है, वह भाव भी धर्म नहीं है। क्योंकि धर्म से बन्ध नहीं होता और जिससे बन्ध हो, वह धर्म नहीं हो सकता। इसलिए जिस भाव से बन्ध होता है, वह धर्म नहीं है। प्रेम से कहे तो वह भाव अधर्म है।' एवं दसूरी बात यह कहते हैं: 'पञ्च महाव्रत का भाव आस्रव है।' अहो! तीर्थङ्कर द्रव्य के अलावा ऐसी बात कहने का सामर्थ्य और किसमें हो सकती है? यह बात सुनने में आने पर एक साधु से सहन नहीं होती है। अतः वह 'वोसरे, वोसरे' (अर्थात् यह अभिप्राय हमें स्वीकार्य नहीं) ऐसा कहते-कहते बाहर चले जाते हैं। परन्तु शेष सभा तो पूर्ण शांतिपूर्वक उनकी तर्कसंगत बात सुनती रहती है। लोगों को उनके प्रति बहुत प्रेम है! इसलिए वे जो कुछ कहते, वह बात लोग शांति से सुनते।

वढ़वाण में वीरजीभाई वारिया से चर्चा होती है। वे एक छोटा-सा किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म

सिद्धान्त कहते हैं: 'एक समय की ज्ञान पर्याय, अपने द्रव्य-गुण-पर्याय और तीनकाल तीन लोक को जान लेती है। इसलिए एक ज्ञान पर्याय का अस्तित्व ही (सबको सिद्ध करने के लिए) पर्याप्त है।'

मोहनलालजी नामक एक साधु ने 'मोहनमाला' नामक एक पुस्तक लिखी थी। इस पुस्तक के बारे में उनसे बढवाण में चर्चा होती है। उसमें ऐसा लिखाथा: 'अभव्य को ज्ञान के तीन आवरण ही होते हैं। मनः पर्ययज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय प्रकृति उसे नहीं होती; क्योंकि उसे मनः पर्ययज्ञान और केवलज्ञान होता ही नहीं है।' तत्त्व निष्णात कानजीस्वामी ने कहा: 'यह क्या लिखा है? अभव्य का जीव भी केवलज्ञान स्वभावी है, इसलिए उसे भी पाँचों ज्ञान का आवरण होता है। उसे केवल प्रगट नहीं होगा-यह दूसरी बात है, परन्तु उसे है तो पाँचों आवरण।' अहो! कैसा न्यायसंगत तर्क!! तब अन्य साधु मोहनलालजी से कहते हैं: 'कानजी मुनि क्या कहते हैं, वह सुनो। क्योंकि लोग उनकी बात मानेगे, तुम्हारी नहीं।'

कानजीस्वामी की जीवनगाथा में वि.सं. 1986 का वर्ष देखते हैं। 'ढसा' के उपाश्रय में पाट के पास एक अलमारी में पोथी के आकार में छपा हुआ मोक्षमार्ग प्रकाशक रखा है। वे पूछते हैं: 'यह शास्त्र कौन रख गया है?' उत्तर मिलता है: 'महाराज! मालूम नहीं।' बाद में यह शास्त्र बहुत पसन्द होने के कारण साथ ले लेते हैं।

इसी वर्ष भावनगर में आगमन होता है। वहाँ बहनश्री चम्पाबहन उनका प्रवचन सुनकर, फिर घर ज्यों का त्यों याद करके लिखती हैं। एक बार उनके घर आहार लेने के लिए जाते हैं। तब बहनश्री को देखते ही कहते हैं- 'यह कोई अलौकिक व्यक्ति है।' ज्ञान कला किसे नहीं परख सकती।

इस वर्ष का चातुर्मास अमरेली में होता है। उस समय प्रवचन में अति सूक्ष्म बात आती है। यहाँ के प्रमुख रामजी भाई कामाणी कहे: 'महाराज! ऐसी सूक्ष्म बात!! हम नहीं पचा सकते। ऐसी बात पचाना कठिन लगता है।' सही उदाहरण सहित उत्तर मिलता है: 'भाई! हर रोज रोटी खाते हो और यदि किसी दिन कोई मिष्ठान्न परोसे तो क्या ऐसे कहोगे कि हम पचा नहीं सकते? क्या ऐसा कहकर मिष्ठान्न का मना कर देते हो? तो फिर यह बात नहीं पचेगी, ऐसा क्यों कहते हो?' क्सा सीध हृदय में उत्तर जाये, ऐसा उत्तर!!

यहाँ अनुयोग द्वार पर चर्चा होती है। उस समय वे दृढ़तापूर्वक कहते हैं: 'मति-श्रुतज्ञानी अमुक बात न जान सके, ऐसा है ही नहीं। हाँ, केवली सबको प्रत्यक्ष जाने और

मति-श्रुतज्ञानी परोक्ष जाने, इस प्रकार प्रत्यक्ष-परोक्ष का अन्तर है, परन्तु वह जाने सब।' वे ढीली-हीन बात स्वीकार ही करते नहीं है।

सन् 1930 में अमरेली में चातुर्मास पूरा करके वि.सं. 1987 के मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा के दिन जितल गाँव में आगमन होता है। उस दिन दुकान के भागीदार कुँवरजीभाई के पुत्र की सगाई की जाती है। उस सम्बन्ध में कोई प्रश्न करता है: 'महाराज! यह सगाई हुई है, तो इन दोनों का पूर्वभव में कोई सम्बन्ध होगा?' उत्तर: 'नहीं! एक जीव थोर (एक प्रकार की वनस्पति) में से भी आया हो और दूसरा जीव बबूल में से भी आया हो। ऐसा भी हो सकता है। इसलिये अभी संबंध में आये हुए जीवों को पूर्व में संबंध हो, ऐसा कोई जरूरी नहीं।'।'

वि.सं. 1987 (सन् 1931) अर्थात् 42 वर्ष की उम्र से उनके मन में विचार उठने लगते हैं कि अब सम्प्रदाय परिवर्तन करना है, उनको अन्तर में विश्वास हो चुका है कि दिगम्बर जैन धर्म ही मूलमार्ग है और सच्चा धर्म है। इसलिए अन्तरङ्ग में श्रद्धा कुछ और हो तथा बाहर में वेश कुछ और हो-ऐसी स्थिति उन्हें खूब खटकती है। तथा इस वेश में रहकर धर्म का सच्चा स्वरूप खुलकर नहीं कहा जा सकता-यह बात भी अन्तर में चुभती है। अतः वींछिया में अपने बड़े भाई खुशालभाई से-कि जिन्होंने दीक्षा लेने की मंजूरी दी थी उससे-सम्प्रदाय परिवर्तन करने की भावना व्यक्त करते हुए कहते हैं: 'भाई! यह मार्ग सच्चा नहीं है। मैं अब सम्प्रदाय में रहूँगा नहीं। यह दीक्षा मिथ्या है, यह सच्चा साधुपना नहीं है।' खुशालभाई को अपने छोटे भाई कानजीस्वामी के प्रति बेहद प्रेम है। इसलिए वे उनका समर्थन करते हुए कहते हैं: 'भाई! यह मार्ग मिथ्याहो तो अपन को इसमें नहीं रहना, धीरे-धीरे छोड़ देना।'

इसी वर्ष पोरबन्दर में एक भाई कहते हैं: 'झूठ बोलने से जीभ कटे तो मैं मानू कि झूठ बोलने में पाप है।' उत्तर देते हुए कानजीस्वामी कहते हैं: 'भाई! जीभ तो पुद्गल की पर्याय है और झूठ बोलने का भाव जीव की पर्याय है। इसलिए झूठ बोलने से जीभ कट ही जाये, ऐसा कैसे बने? हाँ, झूठ बोलने के भाव से जीव की शान्ति कटती है, इसलिए वह पाप है।' जैसा भाव करें, वैसा उसका फल बाहर में तुरन्त ही मिले- ऐसा कोई नियम नहीं है।

एक बार एक भाई ने कहा: 'मूर्च्छा परिग्रह है, यह बात तो सही है। परन्तु वस्त्र कहाँ परिग्रह है?' उनको वस्त्र सहित मुनिपना मनाना था, इसलिए इस प्रकार से कहते हैं। सत्य



का उद्घाटन करते हुए कानजीस्वामी ने कहा: 'भाई! वस्त्र लेने का-रखने का भाव ही मूर्च्छा है, इसलिए जहाँ वस्त्र-ग्रहण का भाव है, वहाँ मुनिपना होता ही नहीं।'।

अन्य व्यक्ति ने कहा: 'सभी की एकता करो' अर्थात् सभी सम्प्रदायों का एक करो। समाधानकारी उत्तर मिलता है: 'भाई! मेढको को साधकर घी नहीं तौला जा सकता। ऐसे विचारों की एकता बिना वर्तन की एकता नहीं होत।' कोई माने या न माने, सत्य तो सत्य ही रहता है।

वि.सं. 1988 (सन् 1932) पोरबन्दर। प्रवचन में उदाहरण देते हुए फरमाते हैं: 'पाँचों पाण्डव द्रोपदी को वापिस लाने के लिए और राजा से युद्ध के लिए जब जाते हैं, तब कहते हैं कि या तो वह जीतेगा या हम जीतेंगे। ऐसा कहकर जाते हैं। परन्तु हारकर वापस आते हैं, क्योंकि 'वह जीतेगा'- ऐसा कहा, वह शुरुआत ही गलत थी। उसी प्रकार इन पाँच इन्द्रियों से राग को नहीं जीता जा सकता।' पुरुषार्थ की शुरुआत ही ढीली या विपरीत हो तो कार्यसिद्धि कहाँ से होगी ?

इसी वर्ष जयचन्दभाई के साथ चर्चा होती है। वे कहते हैं: 'देखो! श्रीप्रवचनसार की गाथा-231 में ऐसा कहते हैं कि 'अक्रम से शरीर का त्यागकर...' उत्तर : 'भाई! यह क्रमबद्ध ही है, उसके क्रम में ही शरीर का त्याग होता है। वहाँ आश्रम का अर्थ यह है कि हठ करके।'।

एक बार स्वयं कहत हैं: 'आलोचना, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान- ये सभी एक ही है।' जिज्ञासापूर्वक प्रश्न होता है: 'लेकिन शास्त्र में ये तीन कहे हैं तो उनमें अन्तर है न?' सुन्दर सर्वांग समाधान करते हुए कानजीस्वामी कहते हैं: 'ये हैं तो एक ही, लेकिन कथन पद्धति में तीन भेद पड़ते हैं।' अर्थात् चारित्रगुण की एक ही पर्याय के तीन नाम हैं।

इस वर्ष का चातुर्मास जामनगर में करते हैं। बहुत से लोग कालद्रव्य को उपचार मानते हैं उस संबंध में वे स्पष्टीकरण करते हैं: 'जिसने कालद्रव्य को नहीं माना, उसे स्वकालरूप निर्मल परिणमन ही नहीं होतजा।' कालद्रव्य परिणमन में निमित्त है न! इसलिये ऐसा कहते हैं। अहो! क्या सिद्धान्त में किसी भी प्रकार का अपवाद होता है ?

मैं एक स्वतन्त्र स्वाधीन पदार्थ हूँ। मेरा कार्य करने में मुझे कोई नहीं रोक सकता। मेरे समान विश्व के सभी पदार्थ भी स्वतन्त्र हैं। ऐसी विश्व स्वातंत्र्य की बात उनके अन्तर में समा गई है और प्रवचन में भी बार-बार फरमाते हैं। जामनगर के इस चातुर्मास के समय पण्डित हिम्मभाई शाह प्रश्न करते हैं: 'महाराज साहब! दो जीव को 148 कर्म प्रकृतियों

संबंधी सर्व भेद-प्रभेदों के प्रकृति, प्रदेश-स्थिति-अनुभाग-बन्ध सब ही एक समान हो तो उस समय वे जीव समान भाव करेंगे या भिन्न-भिन्न प्रकार के ?' उत्तर मिलता है: 'भिन्न-भिन्न प्रकार के।' पूरक प्रश्न होता है : 'दोनों जीवों की शक्ति तो पूर्ण है और आवरण भी एक समान हैं, तो फिर भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव कैसे कर सकते हैं ?' तत्काल ही दृढ़ता से उत्तर मिलता है: 'पारिणामिकद्रव्य अकारण है।'

सन् 1933 अर्थात् संवत् 1989 मगसिर शुक्ला दशमी को जामनगर के समीप चेला गाँव में एक स्वप्न आता है। उसमें ऐसा आता है कि एक बड़ी हुण्डी मिलती है, लेकिन वह हुण्डी इस दुकान में अर्थात् वे जिस सम्प्रदाय में है, उसमें नहीं पट सकती। उसके लिए तो साहूकार की दुकान अर्थात् वीतरागमार्ग के सन्त खोजने पड़ेंगे। यह स्वप्न के बाद 2 वर्ष जितने अल्प समय में वे परिवर्तन करते हैं। स्वप्न भी भविष्य के सूचक होते हैं न!

जैसे-जैसे दिगम्बर शास्त्र मिलते हैं और उनका गहन अभ्यास होता है, वैसे-वैसे सत्यशोधक कानजीस्वामी के अन्तर में सत्य वस्तुस्वरूप क्या है आप समझ में आने लगता है। सच्चे मोक्षमार्ग का ख्याल आता है। जिससे उनके उस समय के प्रवचनों में ऐसे अद्भुत, अलौकिक, अपूर्व एवं आध्यात्मिक सिद्धान्त-न्याय स्फुरित होते हैं कि जो कभी अन्यत्र कहीं सुनने में आया न हो। वे किसी भी शास्त्र पर प्रवचन करें, तो भी अन्य प्रवचनकारों से अलग प्रकार के सिद्धान्त निकालते हैं। सम्प्रदाय में जिस बात की गन्ध भी नहीं है, ऐसी स्पष्ट सैद्धान्तिक बात सुनकर अन्य साधु और श्रोतागण आश्चर्यचकित रह जाते हैं। जड़ और चेतन भिन्न-भिन्न हैं; शुभराग से वीतरागता की जाति अलग है; प्रत्येक पदार्थ द्रव्य गुण पर्यायमय है अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप है; प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है; स्वानुभूति ही प्रकट करने योग्य है; शुभभाव भी बन्ध का कारण है; वीतरागभाव ही मोक्षमार्गरूप है एवं कल्याणमूर्ति और भवनाशक सम्यग्दर्शन की महिमा अपूर्व है.....इत्यादि हजारों दिगम्बर जैन सिद्धान्त अन्तर में स्पष्ट होते हैं और प्रवचन में भी निरन्तर यथार्थ प्रतिपादन होने लगता है।

सम्प्रदाय के लोगों की मान्यता ऐसी है कि हम जैनकुल में जन्मे हैं, इसलिए सम्यग्दृष्टि तो हैं ही और थोड़े ब्रतादि पालते हैं, इसलिए श्रावक भी हैं। - इस मान्यता के विरुद्ध सम्यग्दर्शन पर अत्यन्त वजन देते हुए कानजीस्वामी मेघगर्जना समानवाणी द्वारा फरमाते हैं: 'समकित महादुर्लभ वस्तु है। इस जीव ने अनन्त बार हजारों रानियाँ छोड़कर बाह्य मुनिव्रत पालन किया है और शरीर की चमड़ी उतारकर कोई नमक छिड़के तो भी आँख का कोना लाल न हो, ऐसी क्षमा धारण की है। परन्तु एकबार भी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया है।

लाखों-करोड़ों जीवों में किसी विरले को ही सम्यग्दर्शन होता है। समकित कोई निराली ही चीज है। इसके बिना सभी बाह्य शारीरिक और मानसिक क्रियाएँ इकाई रहित शून्य के समान हैं। सम्यग्दर्शन-रत्न बहुमूल्य है। इसकी प्राप्ति होने पर कल्याण हुए बिना नहीं रहता। यदि कदाचित् सम्यग्दर्शन प्राप्त न हो लेकिन उसकी तथासम्यग्दृष्टि की महिमा आयी तो भी बहुत लाभ होगा। सम्यक्त्वरहित बाह्य का सर्व जानपना मात्र अज्ञान है। सम्यग्दर्शन होने पर आत्मसाक्षात्कार होता है और सिद्ध भगवान जैसे सुख का अनुभव होता है।' इस प्रकार वे अनेक युक्तियों, प्रमाणों और सटीक उदाहरणों से सम्यग्दर्शन का अद्भुत चमत्कारिक माहात्म्य सुन्दर रीति से बताते हैं। अरे! उनका प्रिय और मुख्य विषय ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम तत्व की सच्ची समझ करना अनिवार्य है। आत्मतत्व की सच्ची समझ बिना दया-दान-व्रत-तप आदि सब निरर्थक है, ऐसा वे बारम्बार स्पष्टरूप से अत्यन्त भारपूर्वक प्रतिपादन करते हैं। गृहीत मिथ्यात्व पर वज्र प्रहार करके और सच्ची समझ करने की प्रेरणा देकर वे सौराष्ट्र में एक निराले धार्मिक वातावरण का सृजन करते हैं। अहा! उनकी वाणी इतनी जोरदार है कि जैसे बिजली गिरे और पर्वत के दो टुकड़े हो जाये ऐसी प्रभावशाली और कल्याणकारी वाणी अनेक जीवों को आकर्षित करे, ये स्वाभाविक है। ये क्या कहते हैं, यह जानने के लिए अन्य साधु-साध्वी भी उत्सुक रहते हैं।

वीतरागधर्म पर उनकी अनन्य श्रद्धा, सारी दुनियाँ न माने तो भी अपनी सत्य मान्यता पर अकेले टिके रहने की अजब दृढ़ता और अन्तर के जोर सहित न्यायसंगत वाणी अच्छे अच्छे नास्तिकों को सोचने के लिए बाध्य कर देती है और अस्तिक बना देती है। उनका दिव्य सिंहनाद पात्र जीवों के हृदय की गहराई में पहुँचकर उनका पौरुष को उछालती है। अहा! सत्य और न्याय के बल से सारी दुनियाँ को चुनौती देनेवाले इन अध्यात्म शूरवीर की निर्भय-निःशंक बनाने वाली गर्जना जिन्होंने साक्षात् सुनी है, उनके कर्णों में आज भी गूँजती है। वे युक्ति, न्याय और उदाहरणों से शास्त्रों में भरे हुए सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं और शास्त्रों के अंतरङ्ग भावों को बाहर निकालकर अलौकिक आध्यात्मिक भावार्थ बताते हैं। इसलिए उनके दृढ़ श्रद्धान, विशाल ज्ञान, कठोर चरित्र, और मधुर गुंजनमयी वाणी की सुगन्ध सम्पूर्ण जैन जगत में फैल जाती है।

एक बार वे फरमाते हैं: 'जो कोई जीव जैसा और जितना आत्मा है, वैसा ही उतना न मानकर उसे रागी या अल्पज्ञ मानता है, वह अपने आत्मा का अपमान करता है और इसलिए वह ऐसी जगह जन्म लेता है कि जहाँ उसे अन्य जीव भी 'जीव' रूप में मानते नहीं।'

वि.सं. 1989 के ज्येष्ठ माह की चोटीला गाँव की यह बात है। सामान्यतया कानजीस्वामी किसी साधु के साथ उपाश्रय में नहीं ठहरते, क्योंकि वे किसी को भी सच्चा साधु मानते ही नहीं हैं। इसलिये चोटीला ग्राम में आगमन होने पर वे कहीं और ठहरते हैं। लेकिन बाद में उम्र और दीक्षा में उनसे वरिष्ठ ऐसे गुलाबचन्द जी साधु संदेश भेजते हैं: 'कानजीस्वामी से कहो कि मेरे साथ ठहरें, मुझे प्रसन्नता होगी।' इसलिए कानजीस्वामी उनके साथ उपाश्रय में ठहरते हैं और गुलाबचन्दजी प्रसन्न होते हैं। फिर उनके साथ बातचीत होने पर गुलाबचन्द जी कहते हैं: 'शास्त्र में 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' ऐसा कहा है न!' श्रुत के यथार्थ रहस्य को जानने वाले कानजीस्वामी उत्तर देते हैं: 'रागरहित आत्मा का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है और आत्मा में लीनता ही सच्ची क्रिया है। ऐसे ज्ञान और क्रिया से मोक्ष होता है।' लो! इसका नाम 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः' है। उसके पश्चात स्वयं ही आगे कहते हैं: 'शास्त्र में प्रतिमा उल्लेख आता है।' गुलाबचन्द जी ने कहा: 'हाँ! मुझे ख्याल है। मरी सारी जिन्दगी शंका में ही बीती है। परन्तु यदि मैं यह बात शिष्यों से कहूँ तो उनकी श्रद्धा ही उठ जायेगी।' अरे रे! अन्तर में श्रद्धा कुछ रखना और बाहर में कहना कुछ!

इसी वर्ष के पर्युषण से परिवर्तन करने संबंधी विचारों में विशेष दृढ़ता होती है कि अब शीघ्र ही परिवर्तन करना है।

वि.सं. 1990 (सन् 1934) में वढवाण में स्वयं फरमाते हैं: 'इस जीव ने अनादिकाल से लेकर क्रमशः अनत द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावों को जाना है, परन्तु अक्रम अर्थात् एक साथ नहीं जाना।'।

इसी वर्ष बरवाला के पास एक गाँव में एक भाई से बातचीत होती है। कानजीस्वामी उससे प्रश्न करते हैं: 'धर्मध्यान करते हो?' वे भाई उत्तर देते हैं: 'हाँ।' दूसरा प्रश्न: 'चौविहार करते हो?' उत्तर: 'हाँ।' फिर बात आगे चली तो कानजीस्वामी ने कहा: 'सोना अनन्त रजकणों का पिण्ड है।' तुरन्त वे भाई पूछते हैं: 'महाराज! तो फिर आत्मा कितने रजकणों का पिण्ड है?' लो! चौविहार करने पर भी इतनी भी खबर नहीं!

एक बार कोई प्रश्न करता है: 'हम भव्य हैं या अभव्य?' निःशंकाता के निधान कानजीस्वामी उत्तर देते हैं: 'ऐसा प्रश्न ही नहीं करना। शंका की मत रखना कि मैं भव्य हूँ या अभव्य? मैं भव्य ही हूँ, ऐसा विश्वास रखना, श्रद्धा करना।'।

इस वर्ष का चातुर्मास राजकोट के सदर उपाश्रय में होता है। सम्प्रदाय परिवर्तन के पूर्व

यह अन्तिम चातुर्मास है। इस अवसर पर भाद्रपद शुक्ला अष्टमी से सं. 1991 के कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा तक परम अध्यात्म परमागम श्रीसमयसार की गाथा 1 से 99 पर सभा में प्रवचन करते हैं। प्रतिदिन एक बार के इन प्रवचनों में एक बार फरमाते हैं : 'पूर्णता के लक्ष्य से की गई शुरुआत ही वास्तविक शुरुआत है।' पूर्णता अर्थात् मोक्षपर्याय, साध्यदशा। स्वयं के अति ही गहन चिन्तन से निकला यह सूत्र मुमुक्षुओं के लिए दिशाबोध के समान है और शुरुआत किस प्रकार करना, इसकी सूचना देता है। ऐसे अनेक मन्त्रों द्वारा उन्होंने गाँव-गाँव में अनेक सुपात्र जीवों के हृदय में सत् के बीज बोये हैं और आत्म-आराधनामय मार्ग का बुत प्रचार-प्रसार किया है। उनका यह कार्य सम्प्रदाय के अनेक श्रावक और साधुओं को विचार में डाल देते हैं।

राजकोट में इसी समय दौरान षट्खण्डागम शास्त्र का-जो कि छिपाया जा रहा था, उसका-एक फर्मा (8 पेज) उनके पास आता है और इस परमागम का दर्शन जीवन में प्रथम बार होता है।

यहाँ एक भाई मरणासन्न स्थिति में थे। इसलिये कानजीस्वामी उन्हें दर्शन देने के लिए पधारते हैं। वे भाई कहते हैं: 'मांगलिक सुनाइये।' कानजीस्वामी मांगलिक सुनाते हैं। मांगलिक सुनकर वे कहते हैं: 'आपने क्या कहा वह समझाइए।' कानजीस्वामी अत्यन्त प्रेम से मिठासपूर्वक कहते हैं: 'अरहन्त, सिद्ध आदि का शरण लेना सच्ची शरण नहीं है, उनके द्वारा कहे गये धर्म अर्थात् आत्मा की शरण लेना यही सच्ची शरण है।' यह बात सुनकर वे भाई अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। कल्याणकारी मंगलमय सत्य बात सुनने पर किसे हर्ष नहीं होगा ?

इस प्रकार हमने देखा कि वि.सं. 1970 से 1990 अर्थात् सन् 1914 से 1935 तक 21 वर्ष की लम्बी अवधि में कानजीस्वामी स्थानकवासी साधु के रूप में बोटाद, वढवाण, अमरेली, पोरबन्दर, जामनगर, राजकोट आदि सौराष्ट्र के अनेक प्रमुख शहरों में चातुर्मास करते हैं तथा अन्य समय में छोटे-बड़े हजारों गाँवों में विहार करके उन्हें अपनी वाणी रूपी गंगा से पावन करते हैं। इन 21 वर्षों में वे सौराष्ट्र के प्रायः प्रत्येक स्थानकवासी जैन के हृदय में बस चुके हैं। उनके पीछे सारा सौराष्ट्र पागल हुआ है। जिस गाँव में उनका चातुर्मास हो, वहाँ अन्य गाँवों के हजारों जिज्ञासु उनके दर्शन करने तथा प्रवचन सुनने के लिए आत हैं। उनकी वाणी का जादू हजारों लोगों पर छा जाता है तथा उनक कल्याणकारी तलस्पर्शी



प्रवचन, उत्कृष्ट तत्त्वज्ञान तथा आदर्श जीवन के प्रति बहुमान प्रगटता है। उनके प्रताप से शारीरिक क्रियाकाण्ड में फँसा हुआ अध्यात्म मार्ग पुनः प्रकाशमान होता है।

बचपन से ही उनका जीवन वैरागी, चिन्तनमय, प्रतिभाशाली और साध्यलक्ष्यी है। वे ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा लेकर, स्थानकवासी साधु की दीक्षा ग्रहणकर, उच्चस्थान प्राप्त करते हैं, तो भी शास्त्र अभ्यास और गम्भीर चिन्तन-मनन से इस सत्य की शोध कर लेते हैं कि यह भव-भ्रमण के नाश का सच्चा उपाय नहीं है; सच्चा मार्ग कोई और ही है। शरीर या राग के क्रियाकाण्ड में मोक्षमार्ग नहीं है, वास्तविक मोक्षमार्ग तो स्वानुभूतिमय है। स्वानुभूति में ही सम्यग्दर्शन का जन्म होता है, फिर उसकी वृद्धि होने पर श्रावकपना और विशेष वृद्धि होने पर मुनिपना होता है। यह मूल मार्ग है। तो भी सम्प्रदाय में इससे विपरीत दिशा में ही प्रयत्न करने की प्ररूपणा की जाती है ऐसा उन्हें अन्तर में महसूस होता है।

असाधारण प्रतिष्ठा-प्रतिभा के धनी यह महापुरुष दो दशक जैसे लम्बे काल तक स्थानकवासी सम्प्रदाय के साधु वेश में रहते हैं। इस समय दौरान उत्तम साधु के रूप में उनकी प्रसिद्धि चारों ओर फैलती है। सम्प्रदाय के साधुओं में उनका नाम अग्रगण्य है। सामान्यरूप से व्यापार धंधे से निवृत्त होने वाले वृद्ध लोग ही धर्म करे ऐसी धारणा लोगों में व्याप्त है। परन्तु कानजीस्वामी जिस गाँव में पधारते हैं, वहाँ उनकी अद्भुत न्यायसंगत अध्यात्म अमृतवाणी सुनने के लिए बुजुर्ग, युवक, शिक्षित डाक्टर-वकील तथा अनेक शास्त्राभ्यासी उमड़ पड़ते हैं। उनकी अन्तर खुमारी देखकर हजारों लोग चकित हो जात हैं तथा जैसे मुरली की ध्वनि सुनकर सर्प डोलने लगता है, वैसे मन्त्रमुग्ध होकर उनके प्रवचनों में डोलने लगते हैं। जो भी शहर या गाँव में वे पधारते हैं, वहाँ घर-घर में धर्म की चर्चा होने लगती है। सारे गाँव का वातावरण धर्ममय हो जाता है। अरे! जिज्ञासु जीव तो रास्ते में भी धर्म की अर्थात् आत्महित की चर्चा करते हैं<sup>7</sup> अन्य दिनों में सूना पड़ा हुआ उपाश्रय इन दिनों सुबह, दोपहर और शाम ऐसे प्रायः सारे दिन धर्मचर्चा से गूँज उठता है। उनकी तत्त्वज्ञान पूर्णवाणी सुनने से कितने ही सुपात्र वैरागी जीवों का मन व्यापार आदि बाह्य प्रवृत्ति में लगता नहीं है। अतः वे उनकी शीतल छाया में रहकर धर्म लाभ लेते हैं। उनके प्रवचन में आगे बैठने की जगह मिले और ठीक से सुनने में आये इसलिए बहुत से लोग प्रवचन प्रारम्भ होने के घण्टे-डेढ़ घण्टे पहले से आकर बैठ जाते हैं। प्रवचन के समय उपाश्रय तो पूर्ण भर ही जाता है, गलियों में भी लोग समाते नहीं हैं। जिस गाँव में प्रवचन होता है, उसके आसपास के गाँवों के जिज्ञासु भी उमड़ पड़ते हैं। इसलिए बड़े शहरों में उनका व्याख्यान बहुत बार विशाल जगह में रखा जाता है।

कोई अति जिज्ञासु उनके प्रवचन के मुख्यबिन्दु लिख भी लेते हैं।

इस प्रकार सहजरूप से अनुमान होता है कि उनका स्थान कैसा अद्वितीय है। एक ओर ऐसी स्थिति है, तो दूसरी ओर समयसारादि दिगम्बर शास्त्रों के गहन अवगाहन से उनके अन्तर आत्मा में वास्तविक सत्य मार्ग तो स्वानुभूतिप्रधान परम वीतराग सनातन दिगम्बर धर्म ही है, ऐसा बहुत समय से लगता है और ऐसी प्रतीति भी अंतरङ्ग में हो गई है। समयसार में कहा हुआ वस्तुस्वरूप और दिगम्बर निर्ग्रन्थ मार्ग ही सत्य भासित होता है। फिर भी बाहर में वेष स्थानकवासी साधु का है और उनके आचरण स्वीकारे हैं। यह विषम परिस्थिति उन्हें असह्य लगती है, खटकती है और सम्प्रदाय का बाह्य वेश सत्यमार्ग की प्रभावना में बाधक लगता है। ऐसी परिस्थिति अब अधिक समय सहन हो सकती नहीं है।

अन्ततः बहुत विचारणा और अनेक मंथन के बाद दृढ़ निश्चय के साथ विक्रम सं. 1990 सन् 1934 में 45 वर्ष की उम्र में घोषणा करत हैं कि अब मैं सम्प्रदाय में रहनेवाला नहीं हूँ? धन्य है उनकी शूरवीरता को!

जो स्वरूप के साधक है, जिन्हें पूर्णता प्राप्त करनी है, पूर्ण वीतराग होने की अभिलाषा है, वे समाज या सम्प्रदाय के बन्धन में कैसे रह सकते हैं? जो महात्मा किसी प्रकार की आशा रखे बिना मुक्त रूप से-निरपेक्षरूप से विचरते हैं, वे किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध में कैसे बँधे? और यदि वे बंधन में रहे तो सिंह को बाड़े में बाँधना जैसा हो! लेकिन वह तो अशक्य है। इस प्रकार सम्प्रदाय में आदर-सम्मान, ख्याति, कीर्ति-उच्चासन आदि सब कुछ प्राप्त करने पर भी कानजीस्वामी परम निस्पृहता से सत्य के लिये सम्प्रदाय को तिलाञ्जलि देने को तैयार होते हैं और उसके लिये योग्य स्थान की विचारणा करने लगते हैं।

सम्प्रदाय छोड़ने के निर्णय से सम्प्रदाय के लोगों में बड़ी खलबलाहट मच जाती है। जो स्थानकवासी सम्प्रदाय कानजीस्वामी का नाम गौरव से लेता है, उसमें इस निर्णय से भारी आन्दोलन हो, वह स्वाभाविक है। सम्प्रदाय का सूत्रधार, महारथी, कोहिनूर हीरा, मुख्य आधार सम्प्रदाय छोड़ने की बात करें वह तो कैसे सहन हो? चारों तरफ लोगों के हृदय में विरोध जाग उठता है। सम्प्रदाय के हठाग्रही-मताग्रही बालजीव अज्ञान की वजह से निन्दा की झड़ी लगा देते हैं और चारों तरफ अनेक प्रकार के विरोध का झंझावात उठता है। विरोधी कहते हैं: 'देखें तो जरा! कानजीस्वामी कैसे परिवर्तन करते हैं?' दूसरी ओर जिसे उनकी न्यायसंगत बात बैठ गई है, जिनके हृदय में वे अग्रस्थान पर विराजते हैं और जो उनके पीछे

पागल हैं, ऐसे भक्तों को उनके प्रति अपार श्रद्धा है। वे तथा सरल स्वभाव के मध्यस्थ लोग ऐसा सोचते हैं। 'कानजीस्वामी सम्प्रदाय छोड़ना चाहते हैं, इसके पीछे जरूर कोई कारण-रहस्य होगा। वे जो भी करेंगे, वह सोच समझकर ही करेंगे।' वह उचित होगा तो ही करते होंगे। फिर भी यह तो सारे सम्प्रदाय छोड़ने की बात है न! इसलिए खलबलाहट तो होती ही है, तो भी वे अपने निर्णय में मेरु के समान अडिग रहते हैं। विरोध करने वाले के प्रति भी वे अपने मन में समभाव रखते हैं। सभी जीवों के प्रति करुणाभाव धारण करके वे अपने मन को अविचलित रखते हैं।

इस वर्ष का चातुर्मास राजकोट में पूर्ण करके वि.सं. 1991 के (सन् 1935 में) मागसिर माह में राजकोट से जामनगर पधारत हैं। यहाँ वे ग्रन्थाधिराज समयसार की 100वीं गाथा पर प्रवचन करते हैं। यहाँ से विहार करके वे पास के एक गाँव 'ध्रुवाण' आते हैं। यहाँ एक पारसी का पुत्र- जो कि नास्तिक है- उसके साथ बात होती है: 'इस आकाश के क्षेत्र का अन्त कहाँ है? चार दिशा, चार विदिशा तथा ऊपर और नीचे, इस प्रकार दशों दिशाओं में चले जाओ तो भी उसका अन्त कहाँ है? और यदि अन्त है तो फिर उसके बाद क्या है? क्या कोई नदी....तालाब.....दीवार या वाड़ है? यदि वह है तो उसके बाद क्या? फिर ....फिर.....करते-करते क्या आकाश का कहीं अन्त है? तो जैसे आकाश है....है....है वैसे ही उसे जाननेवाला ज्ञान भी अमापने है....है....है।'

ध्रुवाण से विहार करके परिवर्तन के लिए योग्य स्थान की खोज करने गड्डा आदि गाँवों में जाते हैं। वहाँ से जन्मधाम उमराला आते हैं। उन्होंने दीक्षा उमराला में ली थी न! अतः मन में विचार आता है कि परिवर्तन करने के लिए उमराला पसन्द किया जाये तो योग्य होगा। परन्तु यहाँ भी विरोध होता है।

वे सम्प्रदाय परिवर्तन न करे इस हेतु बहुत लोग अनेक प्रकार से प्रेमभाव से विनती करते हैं। उन्हें समझाने के लिए भी बहुत से लोग आते हैं। काई तो आचार्यपद आदि भिन्न भिन्न प्रलोभन भी देते हैं। कुछ लोग कहते हैं: 'साहेब! आप कुछ भी, भले दिगम्बर शास्त्र भी, पढ़ें; संघ को कोई आपत्ति नहीं, परन्तु यह वेश न उतारें, सम्प्रदाय न छोड़े।' परन्तु वे किसी भी प्रलोभन में आये बिना निस्पृह, निःशंक और निर्भय रहकर अपने निर्णय पर अडिग-दृढ़ रहते हैं। उनके निर्णय की दृढ़ता देखकर कुछ लोग तो भय भी दिखाते हैं: 'यदि सम्प्रदाय छोड़ दोगे तो लोग तुम्हारे पास नहीं आयेंगे, कोई तुम्हारी बात नहीं सुनेगा। अरे! आहार-पानी भी नहीं मिलेगा।' ऐसी धमकी भी मिलने लगती है। परन्तु ऐसी धमकियों से-

बातों से कौन डरनेवाला है ? किसी प्रलोभन से लालच में आ जायें या किसी भय से डर जायें, ऐसे वे हैं ही नहीं। कानजीस्वामी का ऐसा स्वभाव ही नहीं है। वे तो सिंह के समान निडर, सागरवत् गम्भीर, स्वाभिमानि तथा उदासीनता से भरपूर वैरागी महापुरुष हैं। वे भयवान होकर अपने निर्णय से डिगते नहीं और प्रलोभन में फँसते नहीं।

उमराला से सन् 1935 अर्थात् सम्वत् 1991 चैत्र वदी तीज को वे सोनगढ़ पधारते हैं। शत्रुञ्जय जैसी पवित्र तीर्थभूमि के निकट आयी हुई, शान्त वातावरण से सुशोभित एवं मानो प्रकृति ने गोद में लिया हो ऐसा सोनगढ़ को देखते ही उनका मन शान्त होता है, शीतल होता है। उन्हें विचार आता है; 'यहाँ जैसा एकान्त और शान्त स्थान और कहाँ मिलेगा ? यहाँ कोई अधिक जैन समाज भी नहीं है, मात्र 2-3 जैन के घर हैं। इसलिए यदि मैं यहाँ परिवर्तन करूँगा तो लोगों को निरर्थक कषाय नहीं होगी।' तभी यहाँ के निवासी हीराचन्दभाई दामाणी कहते हैं: 'साहेब मेरा यह मकान खाली है, यदि आप उचित समझें तो यही रहकर परिवर्तन करें।' ऐसी विनती होने पर अब यहीं ही परिवर्तन करना, ऐसा निर्णय होता है और सोनगढ़ में दो दिन किसी दूसरी जगह ठहरकर चैत्र कृष्णा पंचमी को हीराभाई के मकान में पदार्पण करते हैं। इस मकान का नाम है 'स्टार ऑफ इण्डिया।'

जहाँ से कहान अध्यात्म सूर्य की कान्ति सारी दुनिया में फैलने वाली है, ऐसे सोनगढ़ में हीराचन्द भाई दामाणी के 'नामवाले एकान्त मकान में वि.सं. 1991 के चैत्र शुक्ला तेरस अर्थात् शासननायक भगवान महावीर के जन्मकल्याणक के मङ्गलमय दिन मङ्गलवार को अर्ध चन्द्राकार पीठवाले आसन पर बैठते हैं तथा सामने बड़े पाट पर भगवान पार्श्वनाथ का चित्रपट स्थापित करते हैं। जिसका यह चित्र है, वह प्रतिमाजी श्रवणबेलगोला के निकटवर्ती जिननाथपुरम् के दिगम्बर जिनमन्दिर में पद्मासन में विराजमान है। फिर इस चित्रपट के समक्ष दोपहर सबा एक बजे सम्प्रदाय का जिह्न ऐसी मुहपट्टी उतारकर, उसका त्याग करते हैं अर्थात् परिवर्तन करते हैं। वे स्थानकवासी सम्प्रदाय छोड़ते हैं और घोषणा करते हैं: अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं हूँ। मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का अव्रती श्रावक हूँ।'

इस प्रकार 45 वर्ष की उम्र में यह सहृदयी वीर पुरुष, किसी भी प्रकार के उपसर्ग आ पड़े उस सबको सहने की तैयारी के साथ, अपने आत्मकल्याण के लिए यह ऐतिहासिक महापराक्रमी कार्य करते हैं।

कानजीस्वामी ने स्थानकवासी सम्प्रदाय में जन्म लिया और इसी सम्प्रदाय के साधु

होकर उनके ग्रंथों का गहन अध्ययन किया। परन्तु उसमें से सत्य हाथ आया नहीं। तब दिगम्बर धर्म के शास्त्र मिलते हैं और उसका सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर उनमें प्रतिपादित तत्त्व, युक्ति और न्याय से यथार्थ लगता है। अतः दिगम्बर जैनधर्म अङ्गीकार –स्वीकार करते हैं। जिसके फलस्वरूप साम्प्रदायिक तत्त्वों का तीव्र विरोध उठता है। ऐसी परिस्थिति में भी वे तो निश्चल स्थिर रहते हैं। यह उनके तीव्र पुरुषार्थ का प्रत्यक्ष प्रमाण है। एवं परिवर्तन करते समय कोई भी व्यक्ति उनका प्रत्यक्ष विरोध करने सोनगढ़ नहीं आया। यह सूचित करता है कि उनका पुण्य कैसे सातिशय है।

सम्प्रदाय छोड़नेवाले को अनेक तरह की मुश्किलें और आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। उन पर आलोचना की बड़ी बरसती है, अपमान होती है। आहार-पानी भी नहीं मिलता आदि बहुत सी विपत्तियाँ आ पड़ती है। यह सब कानजीस्वामी जानते हैं, तो भी यह शूरवीर और निस्पृह महापुरुष इन सबकी कुछ भी परवाह नहीं करते और परिवर्तन करते हैं। अहो! जिनके रोम-रोम में वीतरागप्रणीत सनातन दिगम्बर जैनधर्म अर्थात् यथार्थ सन्मार्ग के प्रति श्रद्धा और भक्ति उछल रही है, ऐसे महात्मा सम्प्रदाय के राग की अधिकता में सत्य का गौण कैसे करें? सत्य के प्रति परमभक्ति में-सत् की आराधना में-सर्व प्रकार की अनुकूलताओं की मिठास अर्थात् राग और प्रतिकूलताओं की कड़वाहट अर्थात् डर-भय छूट जाता है।

इस प्रकार हजारों की मानव मेदनी में गरजता हुआ अध्यात्म केसरी सिंह मात्र सत्य के लिए जगत की ख्याति-लाभ-पूजादि को, जैसे सर्प काँचली छोड़ता है, वैसे छोड़कर अत्यन्त निरपेक्ष होकर सोनगढ़ जैसे एकान्त स्थान में आकर वास करता है।

यह पुरुषार्थी पुरुष अनादिकाल में अनन्त अनन्त अज्ञानी जीवों की बन्धमार्ग पर चलती हुई प्रवाहधारा में से अलग होते हैं, उनसे विमुख होते हैं और कुछ भी हिचकिचाहट बिना निःशुंक होकर सत्य के पथ पर प्रयाण प्रारम्भ करते हैं। पूज्यश्री कानजीस्वामी का सम्प्रदाय परिवर्तन अर्थात् अध्यात्मप्रधान शुद्ध दिगम्बर जैनधर्म की सातिशय प्रभावना का सूर्योदय। इस सूर्य की तेजस्वी किरणें प्रारम्भ में सौराष्ट्र तक ही सीमित रहती है, परन्तु बाद में उनका क्षितिज विस्तृत होता है और धर्मप्रभावना का प्रकाश सम्पूर्ण गुजरात और भारत भर में फैलता है। अरे! वह प्रकाश विदेशों में भी अपनी उज्ज्वलता बिखेरता है।

अहा! इस परिवर्तन प्रसङ्ग पर कौन जानता था कि वह अपूर्व कार्य हजारों-लाखों भव्य जीवों का उद्धार करेगा, उनकी जीवन दिशा बदल डालेगा तथा उन्हें सन्मार्ग की ओर ले जायेगा? किसे मालूम था कि ये कानजीस्वामी, भगवान महावीर द्वारा प्रकाशित वस्तुस्वरूप



के सिद्धान्तों को स्वानुभव विभूषित श्रुतज्ञान की लब्धि द्वारा सूर्य के समान स्पष्ट करके वीतरागशासन के स्तम्भ बनेंगे ? एवं किसे कल्पना भी थी कि उनका यह परिवर्तन वीतरागमार्ग को इस भरत क्षेत्र में पञ्चमकाल के अन्त तक टिकाने में निमित्त बनेगा ।

इस परिवर्तन प्रसङ्ग में अपनी अन्तरङ्ग स्थिति कैसी है, यह बतानेवाला एक निवेदन अपने हस्ताक्षरों में लिखते हैं । जो इस प्रकार है:-

### निवेदन

ॐ शान्ति

ॐ शान्ति

श्री परम सहज स्वरूप जिनेन्द्र वीतरागाय नमः ।

वर्तमान स्थिति का परिवर्तन

‘इसमें मेरे आत्महित की विशेष वृद्धि के कारण मुझे भासित न होने से सम्बत् 1989 के पर्यूषण से परिवर्तन करने की विशेष भावना उत्पन्न हुई। यद्यपि सम्बत् 1987 से सामान्यरूप से विचार आते थे। उनके कारणों में धर्म की विशालता का स्वरूप बाहर कहने में हिचकिचाहट होता था। वह चित्त में आघातरूप लगता था तथाबाहर की कुछ मत संकुलितता के कारण, जिस स्थिति मैं हूँ उसमें विरोधपना न हो तो ठीक, इस प्रकार के विचार से कुछ समय बीत गया। संवत् 1987 में निवृत्ति लेना, प्रतिबन्ध कम करना जैसे विचार बारबार आया करते थे। उसमें सं. 1989 के बाद तुरन्त ही निवृत्ति लेकर कहीं विशेष रहना, ऐसे विचार बहुत ही आते थे। परन्तु कहाँ रहना वह निश्चित होता नहीं। फिर यह विचार हुआ कि संवत्, 1990 में राजकोट रहना, फिर निर्णय पर पहुँचना। अब वर्तमान स्थिति में मेरा कल्याण विशेष बुद्धिरूप भासित न होने से यह परिवर्तन हो रहा है। मुझे इस सम्प्रदाय में दीक्षित हुए 21 वर्ष हुए उसमें मेरी यथाशक्ति से सूत्रों, ग्रन्थों को पढ़कर, विचारकर, जानकर मुझे इस प्रकार अब अनुकूलता लगी है, इसलिए यह परिवर्तन है।’

इस प्रकार हमने देखा कि कानजीस्वामी जन्म से लेकर तेरह वर्ष की उम्र तक 13 वर्ष (वि.सं. 1946 से 1959 अर्थात् सन् 1890 तक) उमराला में रहते हैं। फिर 22 वर्ष की उम्र तक अर्थात् और 9 वर्ष (वि.सं. 1960 से 1968 अर्थात् सन् 1904 से 1912 तक) पालेज में रहते हैं। उसके बाद डेढ़ वर्ष (वि.सं. 1968 से 1969 तक गुरु के पास शास्त्राभ्यास आदि में व्यतीत होता है। फिर 24 वर्ष की उम्र से 45 वर्ष की उम्र तक अर्थात् 21 वर्ष और चार माह (वि.सं. 1970 से 1991 अर्थात् सन् 1913 से 1935 तक) स्थानकवासी सम्प्रदाय में

साधु के रूप में रहते हैं। और अब संवत् 1991 में 45 वर्ष की उम्र में परिवर्तन करते हैं।)

दिनांक 27 जून 1977 को डॉ. हुकमचन्द जी भारिल्ल द्वारा लिये गये एक इन्टरव्यू में अपने सम्प्रदाय परिवर्तन के बारे में पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी कहते हैं:

‘हमने दिगम्बर धर्म को सत्य पंथ जानकर और मानकर अङ्गीकार किया है। धर्म श्रद्धा की वस्तु है, उसे किसी मोहर-छाप की जरूरत नहीं। हमें न तो किसी ने दिगम्बर बनाया है और न कोई हमें दिगम्बरपने से मिटा सकता है। हम अपनी श्रद्धा से दिगम्बर बने हैं और अपनी श्रद्धा से ही दिगम्बर बने रहेंगे।’

पूज्य गुरुदेवश्री ने जिस मकान में परिवर्तन किया है, वह मानव बस्ती से थोड़ा दूर होने से वहाँ आसपास के कोलाहलरहित नीरव शान्ति का अनुभव होता है। यदि दूर से भी नहीं व्यक्ति आती हो तो उसके पैरों की आवाज सुनायी देती है। कुछ महीनों तक ऐसे निर्जन, एकान्त, शान्त मकान में उनके दर्शन करने आये दो-चार मुमुक्षुओं के साथ उन्हें समयसारादि का स्वाध्याय करते देखकर उनके प्रवचनों में उमड़ती हजारों श्रोताओं की भीड़ आँखों में तैरने लगती है और इस चमक-दमक को निःकांक्ष, निस्पृह और निरपेक्ष भाव से छोड़ने वाले इन महापुरुष की सिंहवृत्ति और निर्मानता के सामने हृदय नम्रीभूत हो जाता है।

सम्प्रदाय का मोह छोड़ना अत्यन्त कठिन है। सत् को स्वीकार करने वाले लोग तीनों काल थोड़े ही होते हैं। फिर भी समाज का भय और साम्प्रदायिक व्यामोह छोड़कर पूज्यश्री कानजीस्वामी परिवर्तन के बाद क्या करते हैं। यह देखने की जिज्ञासा से बहुत से लोग सोनगढ़ आते हैं। पूज्य कानजीस्वामी तो किसी के प्रति भी पूर्वाग्रह या द्वेषबुद्धि रखे बिना, शान्तभाव से अपने स्वाध्याय-मनन-चिन्तन में ही निरन्तर मग्न रहते हुए दिखाई देते हैं। उनकी ऐसी उपेक्षावृत्ति और स्वाध्यायमय जीवन देखकर तथा उनकी अपूर्ववाणी सुनकर सुपात्र जीव शांत हो जाते हैं, उनके चरणकमल में मस्तक झुकाते हैं और उनकी शरण आश्रय अङ्गीकार करते हैं। स्वयं वे लोग सम्प्रदाय परिवर्तन करते हैं और खण्डित हुआ भक्ति का प्रवाह पुनः उछलने लगता है। कोई कोई लोग तो पश्चाताप भी करते हैं: ‘गुरुदेव! हमने आपकी बहुत अविनय की है, हमें क्षमा करें।’ करुणासागर को उनके प्रति करुणा-कृपादृष्टि के अलावा और क्या हो सकता है? जैसे-जैसे उनके पवित्र निर्मल जीवन और अध्यात्ममयवाणी की चर्चा फैलत है, वैसे-वैसे अधिक से अधिक लोगों को उनके प्रति पुनः बहुमान जागृत होता है तथा साम्प्रदायिक मोह से दबी हुई भक्ति पुनः जागृत होती है।

आत्माहितार्थी जीवों का जीवन आधार सोनगढ़ में बसता है तो आत्मार्थी भी सोनगढ़ की ओर खिचने लगते हैं और धीरे-धीरे सत्सङ्गार्थी जीवों का प्रवाह सोनगढ़ की ओर बहने लगता है ।

पूज्य गुरुदेव श्री के परिवर्तन के बाद साम्प्रदायिक विरोध की अवहेलना करके सर्वप्रथम सोनगढ़ आनेवाला कोई प्रमुख व्यक्ति है तो वह है बोटाद के रायचन्दभाई गाँधी । वे लगभग 60 प्रतिष्ठित व्यक्तियों के संघ के साथ पूज्य गुरुदेवश्री के दर्शन करने और पर्युषणापर्व मनाने सोनगढ़ आते हैं । इस प्रकार धर्म प्रेमी जिज्ञासुओं के लिए सोनगढ़ आने का मार्ग खुलता है । अधिक जिज्ञासु आने से पहले ही पर्युषण में 'स्टार ऑफ इण्डिया' छोटा पड़ता है । अतः गुरुकुल हाईस्कूल के विशाल स्थल पर प्रवचन रखा जाता है ।.....